श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

दशम भाग

प्रवक्ता :
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन, सराफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर ।

श्री सहजानन्दशास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावोंकी नामावली —

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन, संघी,	जयपुर

२२ श्रीमान मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज, गया
२३ ,, सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
२४ ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन गिरिडीह
२५ ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह
२६ ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
२७ ,, सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
२८ ,, गोकुलचंद हरकचन्द जी गोधा, लालगोला
२९ ,, दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर
३० ,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी, आगरा
३१ ,, संचालिका दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी, आगरा
३२ ,, नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
३३ ,, मक्खनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले, सहारनपुर
३४ ,, रोशनलाल के० सी० जैन, सहारनपुर
३५ ,, मोहकमल श्रीपाल जी, जैन जैन वेस्ट सहारनपुर
३६ ,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला
३७ ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
३८ ,, दिगम्बर जैनसमाज गोटे गाँव
३९ ,, माता जी धनवंतीदेवी जैन राजागंज राजागंज इटावा
४० ,, ❀ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज गया
४१ ,, ❀ बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा, झूमरीतिलैय
४२ ,, ❀ इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर, कानपुर
४३ ,, ❀ सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, जयपुर
४४ ,, ❀ बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
४५ ,, ❀ ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
४६ ,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
४७ ,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमल

नोटः—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नोकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियोंमें भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोताओं द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी विपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचि के अनुसार किसी अर्ध, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

समयसार प्रवचन–दशम भाग

[प्रवक्ता–अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज]

इस समयसार ग्रन्थमें निर्जराधिकार पूर्ण हो चुका है इसके बाद अब बंधाधिकार आरहा है।

बन्धाधिकार कहनेका कारण—यद्यपि सुननेमें यह उल्टा सा लगता है कि निर्जराके बाद बन्धका अधिकार क्यों कहा है। किन्तु इसका एक रहस्य यह है कि इसके बाद आयगा मोक्षका अधिकार। मोक्षका प्रतिपक्ष है बन्ध। तो इस बन्धको दिखाकर फिर बन्धसे अत्यन्त रहित बनाने वाला मोक्ष अधिकार कहा जाना है। दूसरी बात यह है कि अधिकारको बतानेकी दृष्टि है। है तो सर्वत्र ज्ञानतत्त्वका ही वर्णन। इस अधिकारमे ऐसे ज्ञानतत्त्वका वर्णन होगा जो ज्ञान बंधके भेषसे आये हुए कर्मपात्रको हटा देगा।

बन्धके भेषमें प्रवेश—अब बन्धका प्रवेश होता है। यह बन्ध सारे जगतको प्रमत्त बना रहा है, मतवाला कर रहा है जैसे—कोई पुरुष बड़ी तेज शराब पीकर बेहोश, मतवाला हो जाता है इसी प्रकार यह प्राणी राग के प्रकट करने वाले भावरूप तेज मदिराको पीकर मतवाला, प्रमत्त हो रहा है। और, यह जगत इसको पीकर मतवाला होकर रसपूर्ण नाटक कर रहा है। जिसमें अनेक कुरस हैं, रागद्वेष, संकल्प, विकल्प, विचार, विवाद, वाञ्छायें जो स्वभावके अत्यन्त विरुद्ध हैं ऐसे भी परिणामोंको करता हुआ यह तीनों लोकोंमें क्रीड़ा करता है।

प्रभुके बिगड़नेपर भी प्रभुकी विलक्षण लीला—यह प्रभु राग मोहके भावसे बिगड़ा हुआ है, तीन लोकमें सर्वत्र सर्व स्थानोंमें जन्म लेकर और नाना प्रकारके शरीरको धारण कर-कर यह क्रीड़ा कर रहा है। इस क्रीड़ा मे खुद ही आकुलित है, पर इसके इस ही ढङ्गकी प्रभुता इन पदोंमें व्याप्त हो रही है कि वह ऐसे ही नाना विभावोंरूप क्रीडा कर रहा है। ऐसे महान् नृत्यको करते हुए इस बन्धको भी धुन देने वाला कोई महिमावान भाव है, वह है ज्ञानभाव। सो यह ज्ञान भाव आनन्दरूपी अमृतका भोग करता हुआ और अपनी शुद्ध अवस्थाको प्रकट विकसित करता हुआ अब प्रकट

होता है। यह ज्ञान निरुपधि ज्ञान है, अर्थात् जिस ज्ञानके साथ रागादिक भाव न लग रहे हों, शुद्ध ज्ञाता रह सके इस रूपसे यह प्रकट होरहा है।

आत्मीय नाटकमें प्रधान पात्र—इस आत्मीय नाटकमे प्रधान पात्र है ज्ञान। जैसे जो भी नाटक खेले जाते हैं उनमे एक प्रधानपात्र होता है जिसमे जो कुछ बात बतानी होती है मुख्यतया उस पात्रको बताया जाता है और दर्शकोंकी दृष्टि भी सारे नाटकमे महिमारूपसे विशेष पात्रपर होती है तो यह जितना भो नाटक चलरहा है, अनेक भेष बन रहे हैं, कभी आश्रवों के रूप मे, कभी सम्वरके रूपमे प्रवेश कर रहे है। द्रव्य कर्म भी और यह भाव कर्म भी बहुत-बहुत पात्र हैं जिनका आश्रय लेकर हम विविध ज्ञान किया करते हैं वे भाव सब पात्र हैं उन पात्रोंमें से एक ज्ञानभाव रूपी पात्र प्रधानपात्र है।

प्रधान पात्रकी तीन विशेषतायें—भैया! नाटकमें जो मुख्य पात्र होता है उसमे तीन गुण होते हैं—धीर हो, उदार हो और अनाकुल हो। जितने भी नाटक हैं, जैसे आजकल श्रीपाल, दानवीर कर्ण हरिश्चन्द आदि, तो इन पात्रोंमे मुख्यता क्या है कि ये तीनों गुण उनमे दिखते होंगे। यदि ये तीन गुण न हों तो उसकी मुख्यता न रह सके और न वह नाटक ही जम सके। अपनी किसी गम्भीर घटनापर धैर्य रख सके, अपने स्वार्थकी पूर्तिमे न रहकर धर्मके लिये, लोकोपकारके लिये अपनी उदारता रख सके, कितने ही संकट आनेपर व्याकुलता न हो सके, ये तीन बातें जहा पायी जाती हैं वहा उस पात्रकी मुख्यता और शोभा होती है।

ज्ञानपात्रकी तीन विशेषतायें—इस हमारी उपयोग भूमिमे जो नाटक चल रहा है, इस नाटकके बीचमें भी ज्ञानपात्र एक ऐसा पात्र है जिसमे ये तीन गुण पाये जाते हैं। ज्ञानबल, भेदविज्ञानबल, वस्तुस्वरूपका ज्ञान बल ऐसे महान् बल हैं कि जिनमें यह ज्ञान, यह बोध अधीर न हो, अपने आपमें यहा स्थिर रहनेकी ओर ही रहता हो और साथ ही यह ज्ञान उदार है। जगतके पदार्थोका किस ही प्रकार परिणमन चलता रहे जिसे अज्ञानी जीव अनुकूल और प्रतिकूल जानकर घवड़ा जाता है, क्षोभमे आ जाता है ऐसे भी जहा ये सकट चलते रहें, प्रतिकूल, अनुकूल स्थिति चलती रहे, तिस पर भी ज्ञाता मात्र रह जाना, यह कितनी उदारताका काम है। इस ज्ञानने अपने आपको भी शान्तिरसका वातावरण दिया है, यह ज्ञान अनाकुल है। ज्ञान तो ज्ञान ही है। वह सुख-दुःख, राग द्वेष आदि स्वरूप वाला नहीं है। ज्ञानका मात्र जानना ही स्वरूप है। यह ज्ञान जब अपनी

सावधानी सहित प्रकट होता है तो इसमें आकुलताका नाम नहीं रहता है यह ज्ञान अनाकुल है ऐसा यह सहज अवस्थाको बिकसित करता हुआ ज्ञान इस प्रकरणमें प्रकट होता है। यह ज्ञान जिस बन्धको नष्ट करता है वह बन्ध क्या है, कैसे होता है? उस बन्धके स्वरूपका पहिले वर्णन कर रहे हैं। यहां एक साथ ५ गाथायें हैं :—

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहि वायामं॥ २३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकदलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं॥ २३८॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहि करणेहि।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किं पच्चयगो दु रयबंधो॥ २३९॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं॥ २४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण॥ २४१॥

बन्धके स्वरूपप्रदर्शनमें एक दृष्टान्तकी घटना—बन्धके स्वरूपको एक दृष्टान्त द्वारा आचार्य प्रकट कर रहे हैं कि जैसे-कोई पुरुष अपनी देहमें तेल लगाये हुए हैं वह ऐसे अखाडेमें पहुँचा, जहां स्वयं ही बहुत सी धूल पड़ी हुई है। ऐसे अखाडेकी बात नहीं चल रही है जहां बाहरसे धूल लाकर डाल दी जाती है जैसे कि लडाईके जो अखाडे होते हैं उनमें बाहर से धूल लाकर डाल दी जाती है। किन्तु, एक प्राकृतिक मैदान जिसमें धूल स्वयं ही पड़ी हुई है, अथवा एक जगलका दृश्य ले लो, जो जंगल भी है और जहां एक बनाया हुआ उपवन सा है, जिसमे स्वय ही धूल पड़ी हुई है उस में कोई पुरुष तैल लगाकर हाथमें हथियार लेकर केला और बांसके पेड़ों को छेदनेका व्यायाम सीख रहा हो ऐसा व्यायाम करने वालेको थोड़ी देर बाद देखोगे तो वह धूलसे लथपथ दिखेगा।

दृष्टान्तमें पक्षके चार स्थल—ऐसी घटनाको चित्तमें रखकर यहाँ प्रश्न ऐसा किया जा रहा है कि उसको धूल लगी है तो क्यों लगी है। उसके धूल-बन्धका कारण क्या है? उस पहलवानने कई काम किए। धूलभरे अखाड़े में गया, फिर शस्त्र और परिकर निकट हुए हैं दूसरा काम। तीसरा काम—उन शस्त्रोंसे व्यायाम किया, परिश्रम किया, और चौथा काम—उसने सूखे या गीले केल व बांस आदिके पेड़ काटे। इन चारों कामोंके बीच

उसको रजसे जो बन्ध हुआ है उसका क्या कारण है ? इस विषयपर प्रश्न किया जारहा है ?

धूलिबन्धविषयक प्रथम पक्ष—तो यहाँ प्रथम पक्ष दिया जाता है कि भाई उस भूमिमें स्वभावसे ही धूल बहुत है। वहाँ पहिलेसे ही धूल बहुत पड़ी हुई है इसलिए बन्ध होगया है। जैसे कि साधारणतया देखने वाले लोग कह सकते हैं कि वाह धूलभरे अखाड़ेमें पहुचा सो धूल लग गई। यहा उत्तर रूपमें यह कहा जा रहा है कि वह धूलवाले अखाड़ेमे पहुचा सो उसे धूलका बंध हुआ है, तो जो पुरुष ऐसे हों कि तैल न लगाये हों और उस अखाड़ेमें पहुँचे हों उनके तो धूलका बध नहीं देखा जाता है बधके प्रकरण को स्पष्ट करनेके लिये यह दृष्टान्त बहुमुखी दृष्टियोंको देता है।

धूलिबन्धविषयक द्वितीय पक्ष—फिर कोई बोले अजी, धूल भरे अखाड़े में पहुँचनेसे धूल नहीं लगी, क्योंकि हम तो देख रहे हैं कि वहाँ बहुतसे अलग दर्शक खड़े हैं। उनके तो धूलका बन्ध नहीं हुआ। उसने जो शस्त्रोंका व्यायाम किया था, हाथ, पैर चलानेका श्रम किया था इसी कारण उसके धूल लिपटी। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि व्यायामके कारण वह धूलसे लथपथ है तो जिसके तैल न लगा हो ऐसा पुरुष यदि वहाँ व्यायाम करने लगे सो उसके तो नहीं दिखता कि धूल लिपट गई।

धूलिबन्धविषयक तृतीय पक्ष—फिर तीसरा पुरुष बोलता है कि न तो धूल भरे अखाड़ेमें जाना बन्धका कारण हुआ और न व्यायाम करनेके कारण हुआ किन्तु उसने जो अनेक प्रकारके हथियार ले रखे हैं और भी निकट जो परिकर है जिनको देखकर कायर पुरुष भयभीत हो सकते हैं इसके कारण उसके धूल लिपटी है। यह कहना तो उन दो की अपेक्षा अधिक बोगस है। मगर कई दृष्टियोंसे इस प्रकरणको सुलझाना है। इसके उत्तर रूपमे यह कहा जा रहा है यदि करण, उपकरण, परिकरणके कारण बध हुआ है तो जिस पुरुषके तैल नहीं लगा है ऐसे पुरुषको भी उन हथियारोंके लेनेके कारण उस परिकरकी निकटताके कारण धूल चिपट जानी चाहिये।

धूलिबन्धविषयक चतुर्थ पक्ष—चौथी बात—कोई चोथा पुरुष यह कह रहा है कि ये तीनों ही बातें ठीक नहीं जच रही है, परन्तु उसने कोई अनर्थ किया है, उसने शस्त्रोंसे पेड़ोंका घात किया है, यह जो पेड़ोंका घात करना है यही धूलके लिपटनेका कारण है। इस पर भी यह उत्तर दिया जा रहा है कि जो पुरुष तैलको देहमें नहीं लगाये हैं उनको भी सचित्त अचित्त वस्तु का घात करते हुए धूलसे लथपथ बन जाना चाहिये, पर नहीं है ऐसा।

न्यायबलसे निर्णय—अतः न्यायबलसे यह सिद्ध है कि उस पुरुषमें जो स्नेह लगा है, तैल लगा है यह तैलका मर्दन ही बंधका कारण है जैसे यह पहलवान शरीरमें तैल लगाए हुए इतने कामोंको करता हुआ उतने कर्मों के बीच रजसे बंध जाता है इसी प्रकार यह मिथ्यादृष्टि जीव जो अपनी उपयोगभूमिमें, उपयोग अंगमें रागका स्नेह लगाये हुये है, तो राग द्वेष मोह भावसे जो परिणत होरहे हैं उन जीवोंको इस प्रसङ्गमें अर्थात् जहाँ कर्मरूपी धूल बहुत भरी हुई है ऐसे इस लोकमें और मन, वचन, कायके कारणोंके द्वारा इन क्रियाओंको करते हुए में और हिंसा, झूठ, चोरी आदि प्रवृत्तियोंको करते हुए में कर्मोंका बंध हो जाता है।

कर्मबन्धविषयक प्रथम पक्ष—इस सम्बन्धमें भी कुछ प्रश्नोत्तरके रूप में विचार करें। यहां प्रथम पक्ष यह है कि इन मोही अज्ञानी जीवोंके कर्मों का बन्ध इसलिये होता है कि वे कर्मव्याप्त इस लोकमें स्थित हैं। इस लोकमें कोई सा भी स्थान ऐसा नहीं है जहां अनन्त कार्माण वर्गणायें न हों। ये कार्माण वर्गणायें तीन रूप से हैं। एक तो जीवके साथ जो कर्मरूपसे बँधी हुई हैं उन रूपोंसे कार्माणवर्गणायें हैं और एक जीवके साथ जो विस्रसोपचय रूपसे पड़ी हुई हैं याने बाह्य बन्धन तो उनके ऐसा है जैसा कि कर्मों का है पर निमित्तनैमित्तिकता नहीं है जैसे जीव मरे तो जीवके साथ बंधे हुये कर्म जायेंगे इसीप्रकारसे लगे हुये ये कार्माणस्कंध भी जीवके साथ मरने के बाद जायेंगे, जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं और तीसरी ऐसी कार्माण वर्गणायें हैं जो न विस्रसोपचय हैं किन्तु हैं, वे न जायेंगी।

विस्रसोपचयका अर्थ व पक्षस्थापन—विस्रसोपचय शब्दमें दो शब्द हैं-विस्रसा और उपचय, विस्रसा शब्दका अर्थ है प्रकृतिसे, स्वभावसे उपचय, याने संचयरूपसे रहे अर्थात् जीवके साथ जो कर्म बंधे हैं वे तो बंधे ही हैं किन्तु इस जीवके ही क्षेत्रमें, प्रदेशमें ऐसी भी बहुत सी कार्माणवर्गणायें साथ लगी है जो इसके साथ जाती हैं, इसके साथ रहती हैं, पर अभी कर्मरूप नहीं बँधी हैं, इस कारण जब यह जीव अपने खोटे परिणाम करता है तो यहां यह हैरानी नहीं है कि परिणाम तो खोटे किये, मगर बँधनेके लिये कर्म उपस्थित नहीं, ऐसी स्थिति इस संसारी जीवके कभी नहीं आती। जितने कर्म बँधे हुये पड़े हैं उतने ही न बँधे हुये भी इसके साथ लगे हुये पड़े हैं और फिर जो न कर्मरूप हैं न विस्रसोपचयरूप हैं ऐसी भी कार्माण वर्गणायें इस लोकमें भरी पड़ी हैं। तो यह सारा लोक कर्मोंसे भरा पड़ा है। इन कर्मोंसे भरे हुये लोकमें यह जीव है, इसलिये

कर्मबन्ध हो गया। ऐसा एक प्रश्न होता था, उसका उत्तर है।

कर्मबन्धविषयक प्रथम पक्षका समाधान—उत्तरमें कहते हैं कि यह बात गलत है। कर्मभरे हुये लोकमें रहनेके कारण कर्म बँध जायें तो सिद्धके भी बँधना चाहिये। क्या प्रभु कोई ऐसी जगहमें रहते हैं कि जहाँ कर्म न हों। वहाँ भी तीनों प्रकारके कर्म हैं। यद्यपि वे सिद्धके साथ सम्बद्ध नहीं हैं, मगर निगोद वहाँ भी ठसाठस भरे हैं और प्रत्येक निगोदके साथ अनन्त कर्म बँधे हुये हैं, और अनन्त ही विस्रसोपचय हैं और फिर ऐसे भी बहुत से पड़े हुये हैं जो न कर्मरूप हैं, न विस्रसोपचय हैं, किन्तु कार्माण वर्गणायें हैं। यदि कर्मसे भरे हुये लोकमें रहनेके कारण कर्म बँध जायें तो सिद्धके भी कर्मबंधका प्रसंग आ जायेगा। इस कारण बन्धका कारण यह नहीं है कि वह कर्मभरे लोकमें रहता है।

कर्मबंधविषयक द्वितीय पक्षका समाधान—अच्छा यह न सही, किन्तु यह पुरुष मन, वचन, कायका व्यायाम तो कर रहा है इस श्रमके कारण बन्ध हुआ। ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर दिया जा रहा है कि यदि मन, वचन, कायके योगसे बंध होता तो जो कषायरहित हैं, जिनको यथाख्यात संयम प्रकट हो रहा है ऐसे जीवोंके भी बंध हो जाना चाहिये। क्योंकि, मनोयोग वचनयोग, काययोग ये वैसे तो तेरहवें गुणस्थान तक बताये हैं, पर वहाँ मनोयोग भावमनके रूपमें नहीं है तो ये तीनों योग बारहवें गुणस्थान तक तो अच्छी तरह पाये जाते हैं, किन्तु जो ग्यारहवें आदि गुणस्थान वाले जीव हैं उनके यद्यपि आश्रव है, पर बन्ध नहीं होता। यदि इन कारणोंसे बन्ध हो जाय तो यथाख्यातसंयमीके भी बंध होने लगेगा।

बन्धस्वरूपका विवरण—बंध वह कहलाता है जो दो समय तक ठहरे यानें एक समयसे अधिक रहे। जब अनेक समय तक ठहरना बंधका लक्षण है तो कहीं तो इस मर्मको इस रूपमें भी प्रकट किया गया है कि आश्रवके क्षणके बाद बंध होता है। अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनोंमें कुछ विरोध सा हो गया है। कहीं लिखा है कि आश्रव, बंध सब एक साथ होते हैं और कहीं लिखा है कि आश्रवके बाद बंध होता है। तो इन दोनोंका यों समन्वय है कि दो समय तक ठहरना उसका नाम बंध है यह तो बंधका लक्षण है पर दो समय तक जो ठहरा इसके बन्ध पहिले ही समयसे माना जाता है। जबसे ठहरा है तबसे बंध है, परन्तु बन्ध संज्ञा चूंकि दो समय ठहरनेके कारण आयी है इसलिये इस दृष्टिसे भी देख सकते हैं कि आश्रवके समयके बाद दो समय वह ठहरे तब बंध संज्ञा हो।

तो बंध संज्ञाका कारण दूसरे समयकी स्थिति है-और चूंकि ऐसा नहीं है कि पहिले समयमें आया सो वह उस जगहको न स्पर्श किये हुयेकी तरह हो और दूसरे समयसे उसका स्पर्श शुरू किया जाय, ऐसा नहीं है इस कारणसे बंध उसी समयसे माना जाता है। यहाँ प्रकृत बात यह कही जा रही है कि यदि मन, वचन, कायकी क्रियावोंसे बन्ध हो तो यथाख्यात संयमी जीवोंके भी बन्धका प्रसंग आना चाहिये।

कर्मबन्धविषयक तृतीय पक्ष व समाधान—इसके बाद तीसरी बात यह कह रहे हैं कि इन्हीं दो बातोंसे तो बन्ध नहीं है किन्तु अनेक प्रकारके जो कारण हैं, मन हैं, वचन हैं, काय हैं, ये ही तो हथियार हैं आश्रव और बन्ध के। इनके अतिरिक्त बाह्य करण भी कितने निकट हुये हैं, सर्व जो बाह्यवैभव हैं, वस्तुओंका संचय है, यह जो बहुत बड़ा परवस्तुओंका परिग्रह है, यही बन्धका कारण है। तो उत्तर देते हैं कि बाह्य वस्तुओंका निकट रहना यही बन्धका यदि कारण हो तो यहा के जीवोंके तो क्या बाह्य वस्तुयें निकट होगीं। जितनी उत्तम, सुन्दर, अनुपम जो हरएक के निकट नहीं रह सकती हैं ऐसी वस्तुओंका समागम है केवली भगवानके, यहां उस साक्षात् निमित्त की बात कही जायगी, जिसमे साक्षात् कर्मो का बन्ध होता ही है। परिग्रह के बीच रहते हुये इन बाह्य वस्तुओंके सद्भावके कारण बन्ध नहीं है। यदि तद्विषयक मूर्छा है तो इसके कारण बंध होता है। केवली भगवानके समवशरणकी रचना तो देखो अनेक इन्द्रादिक देव गान तान कर रहे हैं, कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं, अनेक महापुरुष, देव, इन्द्र जिनकी सेवामे हर प्रकारसे लग रहे हैं, ऐसा जो लौकिक उत्कृष्ट वैभव है ऐसा वैभव और कहां पाया जा सकता है। ऐसे वैभवमे रहना बंधका कारण नहीं है, किन्तु वैभवविषयक जो राग है वह बंधका कारण है। भगवानके रागका सर्वथा क्षय हो चुका है, फिर उनके बन्ध कैसे सभव है।

कर्मबन्धविषयक चतुर्थ पक्ष व समाधान—अब चौथी बात यह कही जा रही है कि हमें तो यह विदित होता है कि इस जीवने इन ससारी प्राणियों को, अनेक जीवोंको सताया, झूठ, चोरी आदि नाना वृत्तियां कीं, इस कारणसे बंध होता है, इसमे घातकी बात मुख्यतया कह रहे हैं। कि इस जीवने अनेकोंका घात किया इसकारण बंध है। अथवा घात किया न कहिये, जीवका घात हुआ इस कारण बध है, तो इसके उत्तरमे कहा जा रहा है कि फिर तो जो साधु ईर्या समितिपूर्वक गमन कर रहे हैं, समितिमें तत्पर हैं ऐसे साधुवोंको भी बधका प्रसग आ जायगा।

ईर्या समितिका पूर्ण रूप—भैया ! ईर्यासमिति पूर्वक जो गमन होता है उसमे चार बातें होती है। एक तो सूर्यके प्रकाशमें दिनमें गमन करें, दूसरे चार हाथ जमीन देखकर गमन करें, तीसरे—अच्छे कार्यके लिए गमन करे और चौथे-शुद्ध परिणामों सहित गमन करें। इन चारों बातों में यदि किसी बातकी भी कमी आयी तो वह ईर्यासमितिपूर्वक गमन नहीं कहलाता है। खाली चार हाथ जमीनको देख कर चलना, गमन करना ईर्या समिति नहीं कहलाती है। कोई साधु किसीको मारनेके लिये गमन करे और चार हाथ जमीन देखकर भी गमन करे तो क्या यह ईर्या समितिपूर्वक गमन कहलायेगा ? नहीं कहलायेगा। तो एक साथ चार बातें होती हैं। ऐसी ही चारों बातों सहित ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हुए साधुवोंके प्रसगमे कदाचित् जीवघात भी हो जाय तो भी बध नहीं होता है। इस प्रकार उक्त चारों बातें कर्मबंधकी कारण नहीं है। न्यायबल से अन्त मे यही निर्णय आया कि जो उपयोगमे राग द्वेष आया है, स्नेहभाव आया है वही बंधका कारण है।

बन्धका कारण उपयोगमें रागका वास—यहाँ प्रश्नोत्तरके साथ अन्तमें यह निर्णय बताया है कि मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकारकी चेष्टावोंमे लगता हुआ रागादिकको अपने उपयोगमें करता है, इस कारण कर्म रूपी धूलसे बंध है। रागादिकसे उपयोग क्यों बनाता है यह जीव, इसका कारण यह है कि जीवमें ऐसा स्वभाव है कि वह किसी न किसी ओर रमे। इस स्वभाव का नाम है चारित्र स्वभाव। जो ज्ञानीजन होते हैं वे शुद्धस्वरूपमें रमते हैं और जो ज्ञानीजन नहीं हैं, जिनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रका अभाव है, शुद्ध आत्मतत्त्वकी जिन्हें कभी अनुभूति नहीं हुई है, ऐसे जीवको चूकि अनेक द्रव्यात्मक पर्यायें यथार्थ मालूम होती हैं कि यही मैं हूँ, तो उन अनेक द्रव्यात्मक पर्यायोंकी रचामे और इनके पोषणमें परकी ओर दृष्टि लगी है, और जहाँ परकी ओर दृष्टि लगी है वहाँ रागादिक होंगे। अब रुचि भी इसको परकी है, ज्ञान भी इसको परका है तो परमे लग भी रहा है, इस तरह इसके उपयोगमे रागादिक आते हैं इस कारणसे इसके बध होता है।

स्नेहके अभावमें बन्धकी अनुपपत्तिसे स्नेहके बन्धहेतुत्वकी सिद्धि—वही पुरुष दृष्टातमे तैल लगाए हुए अखाड़ेमें कूदा था और वे सब काम उसने किये थे और वहाँ धूल का बध हुआ था, वही पुरुष तैलको छुटा ले-जैसे कि आज कल साबुनसे नहा लेते हैं, तैल छूट जाय, सूखा अङ्ग हो जाय फिर बंधे

लंगोटे सहित उसी धूलिवहुल भूमिमे जाकर वैसे ही प्रसंगमें वैसा ही व्ययाम करे तव भी उसके धूलवंध नहीं देखा जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जैसे तैल लगे हुये पुरुषके जो धूलका बंध होता है वह उस तैलके उपयोगसे होता है न कि धूलबहुल भूमिमे जानेके कारण होता है। इसीप्रकार इस मिथ्यदृष्टि जीवके भी जो कर्म रज लगी है वह मिथ्यात्व रागादिक विभाव परिणामोंके कारण लगी है, उसकी बाह्य क्रियाओंसे नहीं लगी है।

किसीकी विशिष्टतासे किसी अन्यका अभाव—सो भैया! देख लीजिये न तो कर्मोंसे भरा हुआ यह लोक इस जीवलोकके बन्धका कारण है, न चलनात्मक ये कर्म, मन, वचन, कायकी चेष्टाये ये बंधके कारण हैं और न चेतन, अचेतनका दलन, मलन बंधका कारण है, किन्तु जो यह उपयोग भूमि रागादिकके साथ एकताको प्राप्त करती है वह पुरुषके बंधका कारण होता है यहाँ शब्द दिया है *उपयोगभूमिकी रागादिकके साथ एकताको लेकर*—इससे यह जाहिर किया है कि द्रव्यानुयोग उपयोगमें आगत रागजन्य बंधकी बात कहता है। किन्तु करणानुयोग अवुद्धिग रागजन्य सूक्ष्म बंधनकी भी बात कहता है। प्रयोजक दृष्टिसे यहां सम्यग्दृष्टिको अबंधक कहा है।

ज्ञानीकी अबन्धकता—करणानुयोगमे यह बतलाते हैं कि जिसमे राग भावका उदय है चाहे वह जीव किसी भी परिस्थितिमें हो, उसके बंध चलता रहता है और यहा यह बतला रहे हैं कि रागादिकके साथ उपयोग यदि एकताको प्राप्त होता है तो उसके बंध होता, जिसे कहते हैं अहंत्व व ममत्व परिणाम, रागमें रागका होना, रागमे उपयोगका फसना, अपने चित्तमें धुनि में राग ही सर्वस्व रहे, रागकी आशक्ति होना ये ही बंधके कारण हैं। रागमें राग जिसके नहीं है उसके बध नहीं बताया, क्योंकि हो रहा है वह, जल्दी मिट जायगा, पर अनन्तानुबंध न करनेके कारण उस बंधको अबंधवत् कहा गया है। तो जब रागके साथ यह उपयोगभूमि एकताको प्राप्त होती है तव इसमें बंध होता है, अन्यथा नहीं, इस ही बातको अब दृष्टान्तके साथ कुछ उत्तर पक्ष रूप समर्थन करते हैं।

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिये सते।
रेणुवहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायाम ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥
उवघाय कुव्वतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयवधो ॥२४४॥

जो सो अणोहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबधो।
णिच्छयदो विण्णेय ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एव सम्मादिट्ठी वट्ट तो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

बन्धहेतुके आभावमें बन्धका अभाव—कहते है कि जैसे कोई नि स्नेह पुरुष या वही पुरुष स्नेहको निकालकर, तैलको निकालकर फिर उसी धूलभरे स्थान मे शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है और वास कदली आदिके वृक्षोंको छेदता है, भेदता है, सचित्त अचित्त वस्तुओंका उपघात करता है। सो नाना प्रकारके शस्त्रोंके द्वारा इन सचित्त वस्तुओंका उपघात करता हुआ इस जीवके जो कर्म रजका बध होता है वह बंध किस कारणसे होता है इसपर विचार करो। इस सम्बन्धमे बहुत विचार पहिले आ चुके हैं यहा निर्णय रूपमे यह समझो कि अब इस पुरुषके जिसके पहिले तैल लगा था अब नहीं लगा है इस कारणसे उसके धूलका बध नहीं होता।

ज्ञानीके शुद्धतत्त्वकी प्रतीतिका परिणाम—निश्चयसे विचारो याने साक्षात् निमित्तकी दृष्टि करके देखो तो कामकी चेष्टाओसे और और अन्य बातोंसे भी इस जीवके बध नहीं होता, किन्तु अशुभ परिणाम हो, मिथ्यात्व रागादिक भाव हो तो उसके बध होता है। इस प्रकार यह सम्यग्दृष्टि जीव भी यद्यपि नाना प्रकारके योगोंमे लग रहा है, पर अपने उपयोगमे रागादिक को नहीं करता इसलिये कर्म रजसे नहीं बँधता। उपयोगमे रागादिकको नहीं करता इसका भाव यह है कि वह अपने आपके सहज ज्ञायक स्वरूपमे प्रतीति रखता है।

ज्ञानीका स्वरूपनिर्णय—मैं क्या हूँ, जैसे कि लोकमे ये सब पुरुष अपने आपको कैसा कैसा नाना प्रकारसे अपनेको माना करते हैं, मैं पडित हूँ, त्यागी हूँ, सेठ हूँ, मैं अमुक परिवार वाला हूँ, अमुक जाति कुलका हूँ, अमुक मजहबका हूँ, जैसे ये लोग अपने आपके बारेमे कुछ न कुछ अहकी श्रद्धा बनाए हैं इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव परमार्थसे, व्यवहारकी बात नहीं, कहनेकी बात नहीं, किन्तु अपने आपमे ज्ञायक स्वरूप हूँ इस प्रकारकी श्रद्धा रखता है सो अपने आपके उपयोगमे रागादिकको न लेकर अपने आपकी प्रतीतिमे अहरूपसे माननेमें रागादिकको ग्रहण नहीं करता, किन्तु शुद्ध ज्ञान प्रकाशमात्र अपने आपको जाना। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मरजका बध नहीं होता।

उपयोगमें रागके अभावसे अबन्ध—जब उस पुरुषने तैल अपने शरीरमें

नहीं लगाया तो सारी बातें वैसी ही दिख रही हैं जो तैल लगाये हुए पुरुष कर रहा था और धूलसे लथपथ हो रहा था, । उसी अखाडेमें गया जहाँ कि धूल भरी हुई है, वैसे ही शस्त्रोंका व्यायाम किया, वैसे ही और अनेक करण, उपकरण, दर्शक, साथी सब निकट हैं, वैसे ही उन सचित्त अचित्त वस्तुवोंका घात किया पर धूलसे नहीं लथपथ हुआ क्योंकि तेलका जो मर्दन है वही बंधका कारण था, अब इसके नहीं है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपकी उपयोग भूमिमें रागादिकको नहीं ला रहा है तो देखिये वही तो जगह है जहाँ कर्म व्याप्त है, उसी जगह रह रहा है, वहाँ ही मन, वचन, कायकी क्रियाओंको कर रहा है और अनेक पदार्थोंका संचय है, शस्त्र लिए बहुतसा परिकर है और उसी प्रकार सचित्त अचित्त वस्तुवोंका उपघात हो रहा है, भावपूर्वक नहीं किन्तु द्रव्य में। फिर भी बन्ध नहीं है।

विरागदृष्टिका प्रताप–भैया! कथनको परखिये–यह द्रव्यानुयोगका कथन है इसमें अनन्तानुबन्धीके बंधको बंध कहा है और अबुद्धिपूर्वक जो हैं उनको इस दृष्टिमें नहीं लिया है, क्योंकि रागमें जो राग है वह ऐसा बन्धन है कि इसको सदा ही बांधे रहता है। जब रागमें राग नहीं रहता, मिथ्यात्वभाव नहीं रहता तो उसका बन्धन निवृत्तिपरक बन्धन समझो। जैसे कोई तेज दौड़ रहा है और उसी तेज दौडनेके अन्दर ही किसी समय यह ख्याल आए कि मुझे उस तरफ नहीं जाना है, मेरा तो अभी वह काम करनेको पड़ा है तो उस तेज दौड़ानमें कोई पाव फर्लाङ्ग दौड करके ही वह रुक पायगा, मगर उस ज्ञानके बाद जो दौड़ है उसमें शिथिलता होगई। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिका जो उपयोग है, कर्मविपाकवश यह भी कुछ अंशोंमे चलित विचलित हो जाता है, उपयोग अन्यत्र लगता भी है, पर उसके वियोगबुद्धि रहती है। यह वर्तने योग्य नहीं है, इससे हम कब अलग हो जायें ऐसी प्रतीति होनेके कारण उसमें बंधन नहीं माना है। हम वहाँपर बंधन यों नहीं मानते कि जब वह गहरा विचार करले उसी समय उसी चीजको छोड़ सकता। देखो तो भैया! वही तो लोक है, वही कर्म है और वही करण उपकरण है वैसा ही चेतन अचेतनका उपादान है फिर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि रागादिक भावोंको अपनी उपयोगभूमिमें नहीं ला रहा है अर्थात् उपयोगमें रागको नहीं बसाये हुए है तो वह बंधको प्राप्त नहीं होता है।

जिसका राग उसका उपयोगभूमिमें वास—जैसे किसी पुरुषका कोई इष्टतम गुजर जाय तो उसे बड़ा क्लेश होता है और तब उसकी उपयोगभूमिमें वही पुरुष रातदिन बना रहता है जिसका वियोग हुआ है ऐसे पुरुषको रिस्तेदार

लोग मनाकर जवरदस्ती खिलाते हैं, वह खाता भी है, पर उसके उपयोग भूमिमें भोजन नहीं वसा है उसके उपयोगभूमिमे तो वही इष्ट पुरुष बसा हुआ है। उस स्थितिमें यह अन्दाज करलो कि उस पुरुषके लिए उस भोजनका भी वधन नहीं है जैसे कि पहिले उसे भोजनके रसका भी बंधन था, जव भोगोंमे रत था, अमुक चीज यों बनाना या खाना है। खानेका वह बडा शौकीन था, खानेका उसे बधन था, किन्तु अब चूंकि उपयोगभूमिमे दूसरी ही बात बस गई है सो भोजन वगैरहका बंधन नहीं रहा। इसी प्रकार जब इस जीवको अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूपका भान होता है, ओह यह तो मैं सहज ही ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप हूँ, तब परका बन्धन नहीं रहता।

ज्ञानीकी अपने आपकी प्रतीति—भैया! ज्ञान और आनन्द भावसे निकल कर वहरमें क्यों फिरूं, यहा मुझे कुछ न मिलेगा, इस प्रकारकी दृढतम भावना उस ज्ञानी पुरुषकी है। मेरा आत्मा ही स्वयं ज्ञान और आनन्द है। यह मैं सबसे पृथक हूँ, सभी द्रव्य अपने अस्तित्व वस्तुत्वादि गुणोंके कारण खुदमे हैं और खुदमे ही परिणमते है। इस प्रकार यह मैं अपने सत्त्वके कारण खुद अपने रूप हूँ, अपने आप विविक्त हूँ, अपनेमे परिणमता हूँ, अपने रूप परिणमता हूँ, अर्थात् भावात्मक परिणमन किया करता हूँ, भाव ही वना पाता हूँ, इसके अतिरिक्त मेरा वाह्य पदार्थोंमे कुछ भी कर्तव्य नहीं। बाह्य मे जो कुछ होता है विभावरूपकार्य, उसमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध इस रूपमें है कि योग्य उपादान जिस अनुकूल निमित्तको पाकर विभावरूप परिणाम सकता है, अनुकूल निमित्तकी सन्निधि होनेपर वह उपादान स्वयं की परिणतिसे विभावरूप परिणमता है, वहाँ पर भी निमित्तभूत पदार्थने कहीं कुछ अपना द्रव्य, अपना गुण, अपनी पर्याय अपनेसे निकालकर उपादानमे रखकर परिणमन किया हो ऐसा नहीं है।

ज्ञानीको पर न सुहानेका कारण—ऐसे इस ज्ञानी जीवको जव वस्तुस्वरूप का सही पता लगता है और इस भेदविज्ञानके प्रतापसे वाह्य पदार्थोंसे उपेक्षित होकर, समस्त वाह्य पदार्थोंको भुलाकर केवल निज ज्ञायक स्वरूपका परिचय लेकर यह अपने उस ज्ञानको ही ज्ञेय करके अभेदरूप प्रवर्तन करता है, उस समय जो इसके विलक्षण अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्दके अनुभवके बाद इसके उपयोगमें फिर राग नहीं बसता। उसे फिर वाहरी वस्तुयें नहीं सुहाती हैं।

उत्कृष्ट ज्ञानसुधारसके स्वादी की वृत्ति--जिसने किसी सरस भोजनका आनन्द लिया है और उसमे विशेष मौज माना है तो उसका वह रुचिया

हो जाता है, अब उसे साधारण, नीरस, सूखा भोजन रुचिमें नहीं आता है। जैसे किसी भी प्रकारका विशेष लाभ कोई प्राप्त करले तो उसे साधारण लाभमें रुचि नहीं रहती है। इसी प्रकार इस ज्ञानी जीवने अपने आपमें सहज स्वाधीन अपने आत्मीय आनन्दका अनुभव किया है इस कारण उसे अब विषयोंमे मौज नही आती है। वह रागमें रागबुद्धि नहीं करता, इसको अपना स्वरूप नहीं मानता, उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी उपासनाके लिए उसका चित्त चाहता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव चूकि अपनी उपयोगभूमिमे रागादिक को नहीं ला रहा है सो अब बतलावो कि वह सम्यग्दृष्टि पुरुष बंधको कैसे प्राप्त करे।

ज्ञानीके निरर्गल प्रवृत्तिका अभाव--इतना होनेपर भी श्री अमृतचन्द्रजी सूरि एक कलशमे कह रहे हैं। "*तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिना, तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां द्वय न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च।*" यद्यपि ये इतनी बातें स्पष्ट हैं कि बध होता है तो अपने रागादिक भावोंके निमित्तसे होता है, बाह्य पदार्थों से नहीं होता है। कदाचित् राग भी आए तो रागको उपयोगभूमिमे बसाये अर्थात् अपनी बुद्धिमे राग रहे, रागमें लिप्त हो या जानकर राग करनेमें हित मानकर प्रवृत्ति करे तो बंध होता है अन्यथा नहीं होता। इतनी बात स्पष्ट होनेपर भी ज्ञानी जीवके निरर्गल आचरण नही होता है। अजी ! कौन खाता है, ये तो पुद्गलकी क्रियायें है, ये तो देहकी क्रियाये हैं, ऐसा जानकर स्वच्छन्द नही बन जाना है, क्योंकि अगर निरर्गल व्यापार कर रहा है, स्वच्छन्द विषयोंमे लग रहा है तो यही तो रागका राग है। यही तो बंधका घर है। उसके बंध कैसे न होगा।

सृष्टि दृष्टिकी अनुसारिणी--बहुतसे लोग यह सफाई देने लगते है धर्म के मामलेमे कि क्या करें, चारित्रमोहका उदय है व लग रहे हैं घरमे जान-जानकर, आशक्तिसे लग रहे हैं, छोड़ नहीं सकते। रात दिनके समयमे किसी भी क्षण यह कल्पना नहीं जगती, यह भाव नहीं उत्पन्न होता कि सर्व भिन्न हैं, मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी भावना इसके नहीं जगती, फिर भी कहते हैं कि चारित्र मोहका उदय है। वह तो है ही पर साथमे मिथ्यात्व भी बस रहा है। यह तो अपने आपके भीतरी भावका अन्तर है कि रुचिया किसका होना ? समस्त झंझटोंसे निवृत्ति पानेका रुचिया होना याने अपने आप का केवल जैसा सहज स्वरूप है उस रूप बनाये रहने का, देखनेका रुचिया होना कल्याणकारी है।

ज्ञानीका निष्काम कर्मयोग—भैया ! निष्काम कर्मयोगमें ज्ञानीके तो यह बात बतायी गई है कि कर्मविपाकसे यदि बाह्य वृत्ति भी चलती है तो भी उसके चारित्रमोहका विपाक है, मिथ्यात्वका विपाक नहीं है। ज्ञानी जीवकी वे जो क्रियायें बतायी गई हैं वे अकामकृत हैं। यह है निष्कामकर्मयोग सम्यग्दृष्टि जीवका। अन्य जन निष्कामकर्मयोग कहते हैं और जैनसिद्धान्तमें भी निष्कामकर्मयोग बताया है, यहां निष्काम कर्मयोगमें उन कर्मोंको उपादेय नहीं कहा है, वहां निष्कामताको उपादेय कहा—तब अन्यत्र कुछ भाई निष्कामकर्मयोगमें निष्कामकी मुख्यता नहीं रखते, कर्मयोगकी मुख्यता रखते हैं और इसी कारण निष्कामकर्मयोगको भी मुक्तिका उपाय मानते हैं पर निष्काम-कर्मयोगसे मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो निष्कामतासे है।

कर्म और ज्ञातृत्वका कदाचित् एकत्र वास—भैया ! कर्मयोग जितना साथ लगा है यह तो दोष है, दण्ड है। इस ज्ञानी जीवके चूंकि ऐसी स्थिति है कि मिथ्यात्व तो रहा नहीं, विपरीत आशय तो है नहीं, अपने ही स्वरूपका परिचय बना हुआ है फिरभी कुछ समयतक ही पूर्वकालमें जो अज्ञानसे बंधन किया था उन बंधनोंमें जो बंधन शेष है उसके विपाकसे इसके अभी प्रवृत्ति चल रही है, कर्मयोग हो रहे हैं, पर वे कर्मयोग बंधके कारण नहीं हैं क्योंकि निष्कामताका वहां साथ है। सो इस प्रकार ज्ञानी जीवके ये दोनों बातें विरोधको प्राप्त नहीं होतीं कि वह कुछ करता भी है और जानता भी है।

कर्तृत्व और ज्ञातृत्वका विरोध—भैया ! स्वरूपतः करना और जानना इन दोनोंका परस्परमें विरोध है, जो करता है वह जानता नहीं, जो जानता है वह करता नहीं। यहां करनेका अर्थ है कर्तृत्वबुद्धि। मैं परमें यों कर देता हूँ, मैं परको सुखी दुःखी करता हूँ, मैं परको ऐसा बना सकता हूँ, बरबाद कर सकता हूँ, पालन पोषण करता हूँ, इस प्रकारकी जो बुद्धि है उसे ही कर्तृत्व बुद्धि कहते हैं। तो कर्तृत्व बुद्धिका जहां प्रसार चल रहा है वहां शुद्ध जाननेका प्रसार नहीं चलता और जहां शुद्ध जाननेका परिणमन चल रहा हो वहां कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती।

ज्ञानीकी मध्यमस्थिति निष्कामकर्मयोग—ज्ञानी जीवके कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती है। कर्तृत्वबुद्धि होनेका भी तो नाम मोह है। ज्ञानी पुरुष सारे लोकको यद्यपि देख रहा है, समस्त बाह्य क्रियाएं कर रहा है फिर भी अन्तर्में उनका ज्ञाता है, जाननहार है। ऐसे निष्कामता व कर्मयोग दोनोंका सम्बन्ध सम्यग्दृष्टि जीवके साथ है। अज्ञानी जीवके केवल कर्मयोग ही लग रहे हैं, उसमें निष्कामता नहीं आई। जिनमें निष्कामता पूर्ण है उनके कर्मयोग नहीं

है, किन्तु इस मध्यम अवस्थामें इस सम्यग्दृष्टि जीवके निष्कामकर्मयोग है सो इस ज्ञानी जीवके ये दोनों ही बातें विरोधको प्राप्त नहीं होती हैं।

कर्मयोगकी अज्ञानमयता—ऐसा निर्णय करनेके बाद अब शुद्धमार्गकी मुख्यता लेकर यह जानना आवश्यक है कि जो जानता है वह अकर्ता है और जो कर्ता है वह जानता नहीं। रागकर्म जितने भी हैं वे सब अज्ञानमय भाव हैं। अज्ञानमय भाव मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है इस कारणसे कर्मराग, प्रवृत्तिका अनुराग, पर्यायबुद्धि ये मिथ्यादृष्टि जीवके होते हैं और उसके वे बंधके कारण होते हैं।

संसार और मुक्तिके फैसलाकी "मैं क्या हूं" के निर्णयपर निर्भरता—भैया! सारा मामला इन दो बातोंमें फैसले रूपमें है कि यह जीव अपनेको वास्तवमें क्या मानता है। मैं क्या हूँ, बस इस ही निर्णयपर दो फैसला हैं—संसारमें रुले या मुक्तिकी ओर जाय। अपने आपमें खुदको देखो कि मैं अपने आपके बारेमें किस रूपमें निर्णय रखे हुए हूँ? मैं क्या हूँ। यदि इन बाह्यपर्यायोंमें ही फसकर, ऐसा ही उपयोग देकर मान रहा हो कि मैं अमुकचन्द हूँ अमुक प्रसाद हूँ, अमुक परिवार वाला हूँ, ऐसी पोजीशनका हूँ, किस ही रूप अपने आपमें विश्वास है तो वह संसारकी ओर है, बंधनकी ओर है, और यदि यह विश्वास है कि मैं जगतके समस्त पदार्थोंसे न्यारा केवल एक चैतन्य-शक्तिरूपमें एक अलौकिक पदार्थ हूँ, निर्नाम हूँ, इसका कोई नाम नहीं, इसमें विविधता नहीं, ऐसा एकस्वरूप मैं चैतन्य स्वभाव हूँ, ऐसा जिसके निर्णय है उसे कदाचित कभी कुछ करना भी पड़ रहा है तो भी उस जीवके इस ज्ञानमय भावको बंधका कारण नहीं कहा, और उस पर्यायबुद्ध जीवके आशयको बंधका कारण कहा है, इसलिये यह निर्णय कर लेना, अनुभव कर लेना आवश्यक है कि मैं क्या हूँ।

बन्धप्रसंगमें उपस्थित वस्तुओंके स्वरूपके विवरणकी आवश्यकता—बंधके प्रसंगमें जो इन अनेक चीजोंका समागम है इनका वास्तविक स्वरूप क्या है इसपर दृष्टि दें। यहाँ प्रकरण यह चल रहा था कि कोई जीव पहलवान अपने शरीरमें तैलका मर्दन करके धूलभरे अखाड़ेमें शस्त्रादिकको ग्रहणकर सचित्त अचित्त कदली बाँस आदि वृक्षोंका घात करता हो, व्यायाम करता हो तो कुछ ही समय बादमें उस पुरुषके समस्त शरीरमें धूल चिपट जाती है, उसके धूल चिपटनेका कारण पूछा गया है उसका यह सब वर्णन हो चुका है। अब यहाँ यह सब देखना है कि वे सभी चीजें आखिर क्या हैं, क्योंकि उनका स्वरूप जाने बिना यह भी विश्वास नहीं हो सकता कि इन बाह्

पदार्थोंके कारण धूलका बंध नहीं हुआ।

कर्मबहुल लोक– जैसे कर्म भरा यह संसार है तो कर्मों के सम्बन्धमें तो पहिले बताया गया था कि तीन प्रकारकी कार्माण वर्गणायें होती हैं– एक कर्मरूप, एक विश्रसोपचयरूप और एक अनुभयरूप जो न तो कर्म ही बनी है और न विश्रसोपचयरूप है किन्तु कर्म बननेकी प्रकृति रखती है ऐसे कर्मों से भरा हुआ यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। लोक कुछ अलग वस्तु नहीं है किन्तु छहों द्रव्योंका जो समन्वयात्मक क्षेत्र है उस क्षेत्रका नाम लोक है अर्थात् जितने स्थानमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य रहते हैं उतने आकाशका नाम है लोक। भैया! कहीं इस आकाशके दो हिस्से नहीं हैं कि कोई लोकाकाश है और कोई अलोकाकाश हो। आकाश एक अखण्डद्रव्य है पर इतने महाविस्तार प्रमाणवाले आकाश में सभी द्रव्योंका निवास है जितनेमें, उतने क्षेत्रका नाम है लोक और उससे बाहरके क्षेत्रका नाम है अलोक।

लोकका आकारादिक--इस लोकका आकार पुरुषाकार बताया है, अनादि से ही ऐसा इसका रूपक है। इसे किसीने बनाया नहीं है न इस रूपकमें कोई फेरफार हो सकता है कि आज पुरुषके आकार लोक है तो कलके दिन और आकारका बन जाय ऐसा उसके आकारका फेरफार भी नहीं हो सकता। इस समस्त लोकमें जीव ठसाठस भरे हैं, पर सिद्धका निवास तनुवातवलय के अन्तमें ४५ लाख योजन परिमाण क्षेत्रमें है और उससे बहुत नीचे, वलयोंसे भी नीचे सिद्धशिला है, उस सिद्धशिलाका नाम सिद्धोंके निवास के कारण नहीं है, किन्तु उस सिद्धशिलाके ऊपर और-और प्रकारके देवादिक नहीं रहते हैं उसके बाद व्यक्तरूपमें, प्रयोजन रूपमें सिद्धोंका निवास है और सिद्धोंका निवास ठीक उतने ही स्थान में है जो सिद्धशिलाके एकदम ऊपर पड़ता है। सिद्धशिलाके परिमाण बराबर उनके ऊपर सिद्धोंका निवास है, इसलिए उस पृथ्वीका नाम सिद्धशिला है, अष्टम पृथ्वी है।

सिद्धशिलाके नीचेकी रचना—उसके नीचे ५ अनुत्तर विमानोंकी रचना है। यह त्रसनालीकी बात कही जारही है। ५ विमान इस तरह स्थित हैं, बीचमें सर्वार्थसिद्धि स्थित है और पूरब, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, में ये चार विमान हैं विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित। इस पटलके नीचे अनुदिश हैं, इन अनुदिश विमानोंमें ९ विमानोंकी रचना है। उनकी रचना भी इसी प्रकार है एक बीचमें है और आठ विमान दिशा विदिशामें एक-एक हैं, फिर उसके नीचे नवग्रैवेयक की रचना है। नवग्रैवेयकके ९ पटल हैं। एक-

एक पटलमें एक-एक ग्रैवेयक है और उसमें एक विमान मध्यमें है और ८ विमान दिशा विदिशामे एक-एक हैं। ऐसे ६ जगहोंमें ६ विमान है। उनमें से नीचेके तीन ग्रैवेयकोंका नाम अधोग्रैवेयक है। मध्यके तीन ग्रैवेयकोंका नाम मध्यग्रैवेयक है और ऊपरके तीन ग्रैवेयकोंका नाम ऊर्द्ध ग्रैवेयक है।

ग्रैवेयकका विवरण—ग्रैवेयक पर्यन्त मिथ्यादृष्टियोंका गमन हो सकता है, इससे ऊपर नहीं होता। इसी ग्रैवेयकका दूसरा नाम वैकुण्ठ रख लीजिये। जैसेकि यह प्रसिद्ध है कि जीव वैकुण्ठमें जाकर चिरकाल पर्यन्त संकटोंसे मुक्त रहता है, उन्हें मुक्त आत्मा बोलते हैं। फिर उनका वह चिरकाल व्यतीत होजाने पर उन्हे वहां से च्युत होकर जन्म लेना पडता है ऐसी बुद्धि जिस वैकुण्ठके बारेमे हो उस स्वरूपकी समानता इस ग्रैवेयकमें है। ग्रैवेयकका नाम भी गला है, गलेके स्थानकी जगहका नाम है ग्रैवेयक और वैकुण्ठका भी अर्थ है कण्ठ के स्थान की जगह।

स्वर्गरचना—इस ग्रैवेयकके नीचे फिर आठ युगलोंमे १६ स्वर्गों की रचना है। यह १६ स्वर्गों की रचना प्रथक्-प्रथक् नहीं बसी है किन्तु विभागमे प्रथक्-प्रथक् है। जो पहिले दूसरे स्वर्ग हैं उनमें ३१ पटल हैं। उनके एक-एक पटलमें ऐसी-ऐसी रचना है कि मध्यमे एक इन्द्रक विमान, दिशामें दिशाके विमान विदिशामे बिदिशाकी पङ्क्तिके विमान और बीचका जो स्थान है उसमें प्रकीर्णक बिमान। इस तरहकी रचना पहिले पटलमें है, फिर दूसरे पटलमें एक-एक विमान कम है, दिशा, विदिशा-इस तरह से पटल ३१ बने हूये हैं, उन ३१ पटलोंमें पूरब, दक्षिण, पश्चिम दिशाओंके जो विमान हैं इसके बीचमें विदिशाके जो विमान हैं और उनके बीच प्रकीर्णक विमान और मध्यका इन्द्रक विमान है। ये सब पहिले स्वर्गमें आये हैं। और इनके सिवाय जो बचे हुए विमान हैं, उत्तर दिशाकी श्रेणी के विमान हैं और उसके अगल-बगल के दो विदिशाके विमान हैं और उनके बीचमें प्रकीर्णक विमान हैं, यह दूसरे स्वर्ग के विभाग मे आया है। इस प्रकार से स्वर्गों के विभाग होते हैं। यों ऊपर इस प्रकारकी स्वर्ग रचना चलती गई है।

मध्यलोक और अधोलोक—फिर स्वर्गों के नीचे, इस त्रसनालीकी बात कह रहे हैं, फिर मध्यलोक शुरू होता है, तिर्यकलोक और इसके नीचे ७ नरक, और इसके नीचे कुछ स्थान छोड़कर फिर वातवलय आ जाता है और फिर चारों ओर भी बहुतसा स्थान है जिसमे स्थावर जीव रहते हैं-ऐसा ३४३ घनराजू प्रमाणलोक है।

कर्मबहुल लोकके बन्धकारणत्वका अभाव—इस लोकमें सर्वत्र कार्माण वर्गणायें भरी हैं। सो लोक कोई अलगकी वस्तु नहीं है किन्तु छहों द्रव्योंका समवायात्मक जो क्षेत्र है उसका नाम लोक कहलाता है। उस लोकमे रहने वाले रागीद्वेषी मोही जीव कर्मवन्ध करते हैं, वे लोकक्षेत्रके कारण नहीं जो कर्म भरे हुए हैं उनके कारण नहीं अथवा अन्य कुछ समूह पडा हुआ है इसके कारण नहीं किन्तु वहाँ अपने स्नेहभावके कारण रागद्वेष मोह विभावों के कारण कर्मबन्ध करते हैं।

सचित्ताचित्तवस्तुघातके बन्धकारणत्व का अभाव—दूसरी बात दृष्टान्तमें यह बतायी गई है कि वह सचित्त अचित्त वस्तुओंका घात करता है इस कारणभी कर्मवन्ध नहीं होता किन्तु उस प्रक्रियामे जो इसका स्नेहभाव है रागद्वेष मोहभाव है उसके कारण वध होता है। जीवोंको प्राणवियोगमें साक्षात् निमित्त है आयुका क्षय है आयुके क्षय बिना जीवोंका मरण नहीं होता, आयुका क्षय हो वहाँ मरण होता है या कि क्षयका निमित्त है, जो शरीर मे मर्मस्थान है, उन मर्मस्थानोंमे पीड़न हो, वैसे भी समय पाकर आयुका क्षय होता, फिर अकाल मरणमे भी निमित्त होता है कि मर्मस्थानमे कोई घात हो जाय। तो मर्मस्थानमे आत्मप्रदेश है। विकृत परिणाम हैं। और पुद्गल में ये सर्वपुञ्ज हैं ये सब पिण्ड हुए, ये सब मर्मस्थान हुये, ये सब अचेतन पदार्थ हैं, मर्म भेदे जाने पर भी आयुका क्षय हो जाने पर भी मरण हुआ ऐसी स्थितिमें भी जीवका जो कर्मवंध है वह पर जीवके मरणके कारण नहीं हुआ। दूसरा जीव शरीरसे निकल गया इसलिये दूसरेका वध हो जाय, ऐसी साक्षात् निमित्तता नहीं है किन्तु इस हिंसकने स्वय अपने आपमे अशुभ परिणाम किया, रागद्वेष भाव किया उस स्नेह भावके कारण उसके वंध हुआ।

शस्त्रव्यायामके बन्धकारणत्व का अभाव—फिर तीसरी बात बतायी गई है कि उसने जो शस्त्रोंसे व्यायाम किया है वह व्यायाम उसके वधका कारण है, पर वह व्यायाम क्या है? हाथ पैरका सञ्चालन। यह हाथ पैरका सञ्चालन किस प्रकार होता है? इसमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, जीवने अपने आपमे सङ्कल्प विकल्प की इच्छा की। उस विकल्प और इच्छाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमे परिस्पन्द होनेके निमित्तको पाकर शरीरमें जो वात तत्व है, उसमें परिस्पन्द हुआ, उसके अनुकूल यह वायु चली। और जिस अनुकूल शरीरके वातमें परिणति होती है उस अनुकूल इसके अङ्ग उठे, सो यह जो समस्त व्यायाम है, हलन-चलन है इसका साक्षात् निमित्त

आत्मा नहीं है किन्तु परम्परासे निमित्त आत्माका विभाव है हिलनें-डुलनेमें साक्षात् निमित्त है वायुका चलना और उस वायुके चलनेका निमित्त होगया प्रदेश परिस्पन्द। उस योग परिस्पन्दका निमित्त सङ्कल्प विकल्प इच्छा है। समाधिशतकमें लिखा भी है कि—"*प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्। वायु शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥*" तो इस प्रकार के व्यायामकी क्रिया से इस जीव के कर्मबन्ध नहीं होता। किन्तु उस प्रसङ्ग में जो इस जीवने राग द्वेष मोह भाव किया उस परिणामका निमित्त पाकर कर्मका बन्ध हुआ।

दर्शक प्रयोजकादि परिकरके कर्मबन्धहेतुत्वका अभाव— फिर इसके बाद बताया कि वहां जो अनेक दर्शक लोगभी खड़े हैं ना, तो उन दर्शकों को बतानेके लिए ही तो घात किया है, व्यायाम किया है, दर्शक न होते तो कर्मबन्ध न होता, ऐसी एक बोगस शङ्का भी की जा सकती है। अथवा वहाँ जो अनेक और परिकर उपस्थित हैं, वस्तुयें उपस्थित हैं वे सब कर्मबन्धका कारण हैं। समाधान वे दर्शकादि जन असमान जातीय द्रव्य पर्यायें हैं। वे तीन चीजों की पिंडोला हैं-जैसे कि हम भी पिंडोला हैं। वह व्यायाम करने वाला भी तीन चीजोंका पिंडोला है— क्या शरीर वर्गणायें, कार्माण वर्गणायें और आत्मा। इन तीन जातियोंका पिंडोला है। सो ये तीनों अर्थात् वे सब दर्शकादि परिकर इस व्यायामकर्ता से पृथक द्रव्य हैं वे सब संसारीजन समस्त परिकर खुद अपने आपमें अपनी परिणति करते हुए परिणमते हैं। उनका परिणमन, उनका द्रव्य गुण पर्याय कुछ भी उनमें से निकलकर इस व्यायामकर्ता में नहीं आते, उनके कारण बंध कैसे होगा। वहां पर भी जो इस जीवने स्वयं मोह रागद्वेष भाव किया है उससे बंध हुआ है। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि जीव रागद्वेषादिक भाव करे तो बंध होता है बाह्य परिकर मिले उससे बन्ध नहीं होता है।

प्रायोजनिक दृष्टि— इस प्रकरणमें एक बात और भी खास जानने की है जिसे आश्रवाधिकारमें बता भी चुके हैं कि नवीन कर्मोंके आश्रवका निमित्त उदय में आये हुए कर्म होते हैं और उदयमें आये हुए कर्मों [illegible] कर्मों के आश्रवण करनेका निमित्तपना आ जाय, इसमें [illegible] द्वेष मोह परिणाम। इस प्रकार नवीन आश्रवोंका [illegible] बताया है। यह प्रायोजनिक दृष्टिसे यहाँ [illegible] [illegible] स्वभावो प्राप्त होता है तब

...षा की गई है कि जो राग आदि होरहे हैं पर उपयोग उनके साथ एकता नहीं करता है ऐसी परिस्थितिपर यहां दृष्टि नहीं दी ।

संसारवृक्षका मूल उखाड़नेका पुरुषार्थ—भैया ! पुरुषार्थपूर्वक जानकर ज्ञान द्वारा कर सकने का कोई ज्ञान है तो पर पदार्थों से और पर भावोंसे भिन्न समझ लेना, भिन्न रूपसे श्रद्धान करना यहा तक अपना कार्य है इसके पश्चात् इसी प्रज्ञा बलके कारण जो जिस समय होना है होता है जैसे कोई वृक्ष खड़ा है तो उस वृक्ष को जड़ों को उखाड़ देने का काम तो पेड़ काटने वाले ने दो-चार क्षणों में कर दिया। उस पेड़को जड़से उखाड़ देने परभी अभी उसकी पत्तियां हरी हैं। वे हरी पत्तिया हरेपनेको छोड़कर सूखी हो जायें ऐसा सूखनेमें उनको विलम्ब लगता है और समयके अनुसार जैसा ... लगना है, लगता है।

संसारमूलच्छेदका उपाय वस्तुस्वातन्त्र्यवगम—इसी प्रकार इस मोह भावको उखाड़ने के लिए हमे पुरुषार्थ चलाना है, वस्तुस्वरूपका सही ज्ञान करना पर पदार्थ अपने जैसे स्वरूपास्तित्वको लिए हुए हैं उस स्वरूपास्तित्वमय पर पदार्थों को निरखना, अपने स्वरूपसे हैं, परके स्वरूपसे नहीं हैं ऐसा भावात्मक अस्तित्व वस्तुत्वमय अपने सत्वको निरखना, सर्व पदार्थ अपने आपमें हैं। किसीभी पदार्थ के द्रव्य गुण पर्यायका किसी अन्य पदार्थमें प्रवेश नहीं है। रही उपयोग परिणमनकी बात, सो उपादानकी ऐसी प्रकृति कि वह विकार परिणमन योग्य है तो अपना विकार परिणमन अनुकूल निमित्तको पाकर वह उपादान अपनी ही परिणतिसे विकाररूप परिणम जाता है तो ऐसी वस्तुचतुष्टयात्मक स्वतत्रता वस्तुका स्वरूपास्तित्व जब दृष्टिमें होता है तब वहां यह बुद्धि नहीं ठहर सकती कि एक वस्तुका दूसरा वस्तु कुछ लगता है।

अनन्त खेदका मूल मोह—मोही जीव किन्हीं भी पर पदार्थों के बारेमें ऐसा विश्वास बनाता है, सोचता है कि यह चीज मेरी है, मकान मेरा है, धन मेरा है, पुत्र-स्त्री मेरे है, पर वास्तवमें उसके कुछ नहीं हैं, क्योंकि यदि उसके होते तो सदा उसके साथ रहते। सो वे हैं पर पदार्थ और मानता है कि मेरा है, और वे पदार्थ अपने समयके अनुकूल विघट जायेंगे, चले जायेंगे। तो उस समय चूकि इसे मोह है, पर पदार्थों में प्रीति लगाये है सो उनको विघटता हुआ देखकर यह अपने मनमें बड़ा खेद मानता है। तो यह मोहभाव जो अनन्त खेदकी जड़ है वह कैसे मिटे ? यह मोहभाव वस्तु-स्वरूपके अवगमसे मिटता है।

सम्बन्धबुद्धि मिटनेका उपाय असम्बन्धबुद्धि होना—मोह कहते हैं एक वस्तु के दूसरी वस्तुके साथ सम्बन्ध बुद्धि करने की सम्बन्ध मानने को। तब मोह मिटाने के लिये क्या करना है कि सम्बन्ध मानना न रहे जो मोह मिट गया। सम्बन्ध मानने का नाम मोह है तो सम्बन्ध न माननेका नाम मोहका विनाश है तो अनेक पदार्थोंमें सम्बन्ध न माना जाय ऐसा प्रकाश कैसे प्रकट हो? समस्त वस्तुयें अपने-अपने ही अन्तस्तत्व में है, अपने ही अपने द्रव्य गुण पर्यायमें हैं, ऐसा दृढ़ निर्णय हो तो सम्बन्ध माननेकी कल्पना खतम हो। अर्थात् मोह मिट जायगा तो मोह मिटानेका पुरुषार्थ है ज्ञान करना। वस्तुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कर लेना। लो अब मोह न रहा, मोह मिट गया, मोहको यों समाप्त किया गया।

रागविनाशका साधन—अब पूर्वबद्ध जो कर्म हैं उनके विपाकमें जो राग चल रहे हैं उन रागोंके मेटनेका भी उपाय यद्यपि इस ही ज्ञानकी स्थिरता है ऐसा ज्ञान स्थिर रहे, ऐसी ही प्रतीति ऐसा ही उपयोग रहे जिसके प्रतापसे मन, वचन, काय की प्रवृत्तियोंमें अन्तर आगया। तो राग मेटने का वह उपाय यद्यपि इस ज्ञानकी स्थिरता है, पर ज्ञानकी स्थिरता करने के लिये और क्या ज्ञान करना है बस इस रुचि और मग्नताकी स्फूर्तिके प्रसादसे ये सब बातें होंगी। तो राग जो विनष्ट होगा वह अपने समय पर विनष्ट होगा। इसमें भी हम ऐसा पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं-जैसे कि मोहके नाश करनेका स्पष्ट पुरुषार्थ कर लेते हैं, जान लिया कि वस्तुकी स्वरूपसत्ता स्वतन्त्र स्वतन्त्र है इस प्रकारकी दृढ धारणा होगई, श्रद्धान होगया अब लो मोह नहीं रहा। पर जो राग अभी शेष है वह राग मिटेगा इस ज्ञान बलसे, पर वह अवशिष्ट राग संसारका बन्धन नहीं करा रहा है।

संसारप्रयोजक बन्धके अभावमें अबन्धकता—संसारभाव मिथ्यात्व भावका नाम है। इस सम्यग्दृष्टिके जन्म और मरणकी परम्परा बढ़ानेकी स्थिति रखें ऐसा राग परिणाम नहीं है। संसारको बढ़ानेकी स्थिति रखे ऐसी परिणति है मोह परिणति। तो इस मिथ्यात्व परिणतिमें जो बन्ध होता है उसे प्रायोजनिक दृष्टिसे बन्ध माना है और इसके अतिरिक्त जो बन्ध है, जिसकी करणानुयोगमें चर्चा है वह यद्यपि बन्धन है, पर जन्म मरणकी परम्परा न बढ़ा सकनेसे वह बन्धन नहीं है। इस तरह जीवके कर्मबन्धकी स्थितिमें जो बाह्यकारण हैं, उपकरण हैं, घटनायें हैं उन सबसे प्रश्नोत्तर करके यह निर्णय दिया गया है कि जो उपयोगमें रागादिक किए जा रहे हैं वे बन्धके कारण हैं, बाह्यपदार्थ कुछ भी परिणमें वह इस जीवके बन्धका कारण नहीं है।

जो मण्णदि हिंसामि यहिंसिज्जामि परेहि सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

मैं दूसरे जीवोंको मारता हूं और दूसरे जीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूँ ऐसा जो आशय है वह अज्ञान भरा आशय है। ज्ञानी पुरुष इसके विपरीत होते हैं, अर्थात् किसी परके सम्बन्धमे विकल्प न रखकर जीवन मरण आदिकमें, लाभ अलाभ आदिकमें समता परिणामसे तृप्त होकर आत्मानुभव मे रत होते हैं।

मैं का यथार्थ निर्णय करना आवश्यक—भैया ! मैं क्या हूँ इसके यथार्थ निर्णयबिना इन ग्रन्थोंका आशय ठीक नहीं बैठ सकता। यहां निज सहज स्वरूपको अह बताया गया है, जो आत्मपदार्थके सत्त्वके कारण स्वयं स्वरसत जो कुछ भावरूप है उस भावरूपमें नयको दिखाया है और इस स्वरूपको जाननेकी आवश्यकता भी अधिक थी, कारण यह है कि इस जीवने आज तक पर्यायामें ही आत्मद्रव्यकी बुद्धि करके रागद्वेष बढ़ाया, मोह अज्ञान फैलाया और उस रागद्वेष मोहके परिणाममें कर्म बन्ध हुआ, उदय हुआ, विपाक आया, क्षीण हुआ, इस तरह की परम्पराको अब तक हम रुलाते चले आए हैं।

आत्माका रमनेका स्वभाव—हम किसी न किसी ओर झुकते तो अवश्य हैं क्योंकि चारित्र आत्माका स्वभाव है, वह किसी न किसी ओर रमेगा जरूर। तो हम किस ओर रमे जिससे कि छुटकारेका मार्ग मिले, उस तत्व का इसमे वर्णन है। वस्तुस्वरूप वस्तुमे मिलता है, वस्तुसे बाहर नहीं होता हमारा भी जो स्वरूप है वह हममें ही है, हमसे बाहर नहीं है, हमारा जितना भी परिणमन है वह हममे ही है, हमसे बाहर नहीं है, चाहे विकारपरिणमन हो. अज्ञान परिणमन हो पर मेरा परिणमन मेरे से बाहर कहां रहेगा ? मेरा परिणमन जब मेरे से बाहर कभी होता नहीं तो परको कर देने का परिणमादेने का मुझमें कहा माद्दा है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो चलता है, ठीक है, पर अपने परिणमनसे किसी अन्यका परिणमन होता है ऐसा स्वरूप नहीं है किन्तु जो जीव विभाव रूप परिणमते हैं उस-उस जातिके कर्मोदयका निमित्त होने पर और अनेक वाह्य पदार्थोंका सान्निध्य होने पर जीव अपनी परिणति द्वारा विभावरूप परिणमा करता है।

उपाधिकी सन्निधि बिना विकारकी असम्भवता—इस जीवमें यह विभाव परिणमन जीवके सत्त्वके कारण जीवके स्वरससे नहीं बना करता है। ऐसा नहीं है कि जीवमें यह परिणमन जीवने बांध रखा हो, भावीकालके अनन्त

परिणमन बांध लिये हों और उन्हें क्रम-क्रम से व्यक्ति में लेते हों ऐसी बात नहीं है क्योंकि उन परिणमनोंको यह जीव स्वरसत यदि परिणमन करता है तो फिर इसे विभाव क्यों कहा जाय ? यही प्रश्न यहाँ किया जाय कि रागद्वेषादिक परिणाम विभाव क्यों कहलाते हैं ? उसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि चूंकि एक ज्ञान स्वभावसे विरुद्ध परिणमन विभाव है, बात तो सही है कि हमारे स्वभावसे विपरीत है। पर यह विपरीत परि-णमन क्यों हुआ ? यह आत्माके स्वभावसे होता है तो फिर वह कभी छूट नहीं सकता। यदि आत्मामें ऐसा अटपट स्वभाव पड़ा हो कि कभी यहां विभाव परिणमन हो कभी स्वभाव परिणमन हो जब चाहे विभाव परिणमन आ जाय। सो निमित्त-नैमितिक सम्बन्धकी व्यवस्था स्वीकार किए बिना आत्माके रागद्वेषादिक परिणामोंको विभाव नहीं कहा जा सकता

निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध और वस्तुस्वातन्त्र्य—कदाचित् इस प्रकार बात उपस्थित की जाय कि आत्मा विभाव परिणमन करता है उस समय जो सन्निधि में रहता है उसको निमित्त माना जाता है और जिस परिणमनमें किसीपर निमित्तका आरोप हो उस परिणमनको विभाव परिणमन कहते हैं। तो ऐसी स्थितिमें भी किसी पर निमित्तके आरोपकी आवश्यकता क्या हुई ? हो रहा है तो होने दो। निमित्त संज्ञा तब दी जाती है जब ऐसी स्थिति हो कि किसी परका निमित्त पाकर उपादान विभाव रूप परिणमता हो। उपादान तो पर्याय बंधी होनेके कारण स्वयं विभावरूप परिणमा। अब सामने उपस्थित होने वाले पदार्थों पर निमित्तका आरोप करो। या न करो तो उससे क्या लाभ है ? हां निमित्त संज्ञा जो है हमें तब विदित होती है जब नैमित्तिक भाव कषाय और मोह हो। पर नैमित्तिकभाव जो होते हैं वे किसी निमित्तकी सन्निधिको पाकर होते हैं। उस उपस्थितिमें भी उपादान अपनी परिणति द्वारा विकार करते हैं ऐसी वस्तुकी अपनी स्वरूप सत्ताकी पूर्ण स्वतन्त्रता है परिणति द्वारा विकार करते हैं। हां विकार होने के बाद निमित्तका व्यवहार, निमित्तकी संज्ञा हम दिया करते हैं। तो नैमित्तिक कार्य होनेके बाद निमित्तका ज्ञान होता है कि यह निमित्त था पर नैमित्तिक कार्य द्रव्यमें बधा हुआ होने के कारण हो और उस समय किसी पर निमित्तका आरोप हो ये सब न्याययुक्त बातें नहीं हैं।

उपादानविकार निमित्तद्वारा अकृत और निमित्तसन्निधि विना असम्भव—यद्यपि इस जगतमें जितने भी विपरीत परिणमन हो रहे हैं वे सब निमित्त

नैमित्तिक सम्बन्ध पूर्वक होरहे हैं। इतनी परकी कोई पदार्थ अपने स्वरूपास्तित्वसे बाहर नहीं जाता। निमित्तभूत पदार्थ अपनी द्रव्य गुण पर्याय उसका जो कुछ भी है वह अपने प्रदेशसे बाहर डालकर किसी पर उपादान को नहीं परिणमाता, किंतु सम्बन्ध इस प्रकारका विलक्षण है कि निमित्तको परको परिणमानेकी आवश्यकता नहीं है। उपादान स्वयं ऐसे अनुकूल निमित्तको पाकर अपनो योग्यता के अनुकूल अपने मे विभाव परिणमन कर लेते हैं। ऐसी जब वस्तुके स्वतन्त्रताकी स्थिति है फिर भी यह भाव करना कि मैं परको मारता हूं या परके द्वारा मैं मारा जाता हू ऐसा अभिप्राय जो करे उसे मूढ और और अज्ञानी कहा है।

नैमित्तिकता जाननेका प्रयोजन निमित्तमें व नैमित्तिकतामें रुचिका परिहार— इस प्रसङ्गमे तीक्ष्ण स्वरूपदृष्टि रखना है, अन्यथा कोई किसीको मारता जाय और कहता जाय कि कहां मारता हूँ। मैं मारता हू ऐसा कोई कहे तो वह मूढ है, अज्ञानी है, मैं नहीं मारता हूँ, ऐसा तो कहे और अन्तरमें निवृत्तिका कोई यत्न ही न हो तो वह एक विडम्बना बन जाती है। तो यह आत्मा एक चैतन्यस्वभावमय पदार्थ है इसके सहजस्वरूपमे केवल चैतन्यप्रकाश जो निराकुल है, जिसका स्वभाव समस्त सत्के जाननेका है, ऐसा यह चैतन्यस्वभावमात्र मैं आत्मा जो नाना विकारों रूप परिणम गया हूं, नाना दशाओंरूप बन गया हूँ, यह सब निर्माण मेरे स्वभावसे नहीं हुआ है, ऐसा उपादान है। विभावशक्ति है कि पर उपाधिके होनेपर आत्मामे ऐसे विविध परिणमन प्राप्त होते हैं पर मैं तो सहज ज्ञान मात्र हूँ, ऐसा ज्ञान स्वरूपका ही स्पर्श करूंगा, अन्य जो चीजें इस उपाधिके निमित्तसे होती हैं वे चीजें इस उपाधिके निमित्त से होती हैं, मैं तो उनको सौंपूगा।

आत्मतत्त्वकी निमित्तसे व नैमित्तिकसे विविक्तता—भैया! नैमित्तिक परिणामोंका अन्वय व्यतिरेक निमित्त के साथ है, ऐसा नहीं है कि आत्मा हो तो रागद्वेष हों ही। जैसे कर्मो का कर्मो के उदयसे सम्बन्ध है, अमुक प्रकार का होनेपर अमुक विभाव होते हैं, ऐसा सम्बन्ध मेरे विभावोंका मेरे स्वयं स्वभावके साथ नहीं है। बल्कि उनका अन्वय व्यतिरेक है। मैं ज्ञानस्वभाव अपने आपको अनुभवता हू, ऐसा सबसे विविक्त चैतन्यमात्र यह आत्मा जो कुछ करता है वह अपने भावों को ही करता है। उपाधिके सम्बन्धमें वे भाव शुभ या अशुभ होते हैं और निरुपाधि दशामे शुद्धभाव होता है, केवल जाननमात्र भाव रहता है। उसके साथ विकल्प या रागादिक भाव नहीं होते हैं। ऐसा सर्व विविक्त चैतन्यमात्र यह मैं आत्मा किसी भी पर

पदार्थका कर्त्ता हूं ऐसी श्रद्धा हो तो अन्तरमें तो उस श्रद्धा वालेने अपना स्वरूप बिगाड़ लिया।

अपनी बुद्धिमें देवत्वका बिगाड़—जैसे किसी अतिशय क्षेत्रपर या किसी क्षेत्रपर जाकर कोई गृहस्थ भगवानका पूजन करता है कि ये वीर प्रभु सब कुछ देते हैं, धन, मकान, पारिवारिक सुख सब कुछ ये देते हैं ऐसा जानकर उस वीतराग प्रभुकी मूर्तिकी पूजा करे तो उसने तो देवको कुदेव बना दिया है, और कुदेव बनाकर उसे पूज रहा है। वह तो जो है सोई है। एक पाषाण बिम्ब है, ज्ञानी संतोंने उसमे देवकी स्थापना की है और उस मोही अभिलाषी पुरुषने रागी कुदेवकी स्थापना की हे अज्ञानीका आशय है कि यह भगवान सबको धन देते है। देखो अमुकने छत्र चढ़ाया था बोलकर सो उसे कितना सुख इन वीर प्रभुने दिया है ऐसा जो स्वरूप मानता है उसने तो देवका स्वरूप ही बिगाड़ दिया। जो यथार्थ स्वरूप है उसके स्वरूपको कोई बिगाड़ नहीं सकता किन्तु अपने उपयोग में उस देवका स्वरूप उसने बिगाड़ दिया।

अपनी बुद्धिमें आत्मतत्वका बिगाड़ः—इसी प्रकार जो अपनेको परका कर्ता समझता है, मैं पर पदार्थका कर्ता हूँ, मैं इनका सुधार बिगाडकर दूंगा इस इस प्रकार परके सम्बन्धमे अपने आपके कर्तृत्वका आशय करता है उसने अपने आपके स्वरूप को बिगाड दिया। हा परमार्थ दृष्टिसे ऐसा जान लेना तो ठीक है कि देखो-पदार्थतो सब अपने स्वभावसे अपने शुद्धस्वरूप हैं किन्तु कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है ऐसी स्थितिमें अमुक पदार्थ यों परिणम गया, ऐसा ज्ञान करना प्रमाणयुक्त है, फिरभी ज्ञानकर चुकनेके बाद हम यत्न किस बातका करें ? निमित्तोंके देखनेका यत्न करें या अपने आपके सहज स्वरूपके लखनेका यत्न करें।

ज्ञातव्य और कर्तव्य—यहतो एक यथार्थ विज्ञान है, कि कोईभी पदार्थ विकाररूप परिणमता है, तो वह किसी परका निमित्त पाकरही परिणमता है, अपने आपके स्वरूपके कारण उल्टापरिणमने लगे ऐसा पदार्थका स्वरूप नहीं है ज्ञान कर लिया। देखाभी जाता है और आगममेभी स्पष्ट है कि निमित्तनैमित्तिकता का इतनाही तो ज्ञान मात्र होता है, और लोक व्यवहारमें [illegible] स्थिति जुट जाय, मानका उदय चल रहा है तो मानी कहलाता है; [illegible] यहभी सत्य है कि निमित्तका द्रव्य गुण पर्याय कुछ अंश ग्रहण किये बिनाही उपादान उस स्थिति में अपनी परिणतिसे परिणमता है। यह सब [illegible] और ऐसा निर्णय करलेने पर अब हमको करनेका काम क्या

रहा ? करनेका काम यह नहीं है कि ज्ञान निमित्तकी दृष्टि बनाये रहे और इसी हेतु भाव से किसी भी सम्भावनाको हम ध्यान रहें, सोचते रहें, निरखते रहें, यह कर्तव्य नहीं है। यह तो एक ज्ञान करनेकी बात है। कर्तव्य तो यह है कि ऐसा यत्न करें जिस यत्नसे अशुद्ध तत्त्वकी दृष्टि न रहे, स्थिरता रहे, अशुभ विचार न रहें और शुद्ध परिणामोंकी परिणति बने।

अशुद्धतानिवृत्ति व शुद्धवृत्तिका यत्न आवश्यक—अशुद्धतासे हटने और शुद्धता में पहुँचनेके यत्नमें जो जो कुछ बन सकता हो, करना चाहिये। अशुभोपयोगसे बचनेके लिए यद्यपि कोई हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम एकदम शुद्ध ज्ञायक स्वरूप के तत्त्वकी दृष्टिमें स्थिर हो सकें। तो क्या अशुभोपयोग जब हो रहा है तब अशुभोपयोगसे दूर होनेका यत्न न करना चाहिये ? दया, दान, संयम, सत्संग, स्वाध्याय, परोपकार, धर्मसेवा, इन परिणामोंसे यह तो लाभ है ना कि अशुभ परिणाम मेरे दूर होते हैं। पंचेन्द्रियके विषयों में उपयोग जाना अशुभ परिणाम है। आत्महितकी भावना के विरुद्ध मानादि कषायों में लगना भी तीव्र कषाय है अथवा विषय कषायोंसे बचनेके लिए हम शुभोपयोग करें।

शुभोपयोग व होनेपर भी दृष्टिकी विशुद्धता—किन्तु शुद्ध उपयोगका लक्ष्य न भूलें शुभोपयोगमें ये ६ कर्तव्य बताये हैं, देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। ये ६ कर्तव्य करें, पर यह ध्यान हम बनाये ही रहें कि हम शुभोपयोग करनेका प्रयोग अशुभोपयोगसे बचनेके लिए ऐसा बल जागृत करनेके लिये है कि जिससे हम शुद्ध ज्ञानकी स्थितिमें पहुँच सकें। निर्विकल्प स्वभावमें उपयोग बनानेका लक्ष्य होगा तो हमारा यह शुभोपयोगभी वास्तविक साधनेमें कार्यकारी बनता है।

आत्मा व शान्तिका स्रोत ज्ञानस्वभाव—शान्तिका स्रोत यह ज्ञानस्वभाव है। जब निरंजन ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसा अनुभवमें आता है। ऐसी स्थिति पानेके मुख्य अधिकारी निर्ग्रन्थ साधुजन होते हैं। और उनको ही मुख्यतासे उनको सम्बोधनेके लिये इस समयसार ग्रन्थका निर्माण हुआ। पर ऐसा नहीं है कि जो सहज बात, स्वरूपकी बात साधुजनोंको कार्यकारी होती है वह अन्य मनुष्योंको नहीं होती। ऐसी बात नहीं है पर उस पर स्थिर हो सकने का अधिकार उसको ही है जो चिन्ताओंसे पृथक् हैं। आरम्भ परिग्रह से दूर हैं, मान अपमान, जीवन मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख इन विकल्पोंसे परे हैं, केवल एक शुद्ध आत्मतत्त्वमें रुचि रखता है, वह ही इस ज्ञानस्वभावके साधनेका पूर्ण अधिकारी है, पर श्रावक जब तक उस शुद्ध ज्ञानस्वभाव को नहीं प्राप्त होती है तब तक सम्यक्त्व नहीं कहा जा सकता।

किसी का किसी पर में कर्तृत्व असंभव.—अनेकों सम्यग्दृष्टि होते हैं। तो सम्यक्त्व और प्रयोजनभूत ज्ञान इन दोनोंमे सब सम्यग्दृष्टियोंकी समानता है। पर अब चारित्रकी विशेषतासे उच्च गुणस्थान बनता जाता है। जिस जीवको ऐसा अमूर्त शुद्ध चित्प्रकाशमात्र अपने आत्मतत्व का अनुभव हुआ है वह यह विकल्प कैसे करेगा कि मैं किसी पदार्थको यों परिणमा सकता हूं मै अपने भावोंके अतिरिक्त अन्य कुछ करनेमें अशक्त हूँ। प्रत्येक द्रव्य अपने आपके गुण परिणमन करनेके अतिरिक्त अन्य कुछ करनेमे समर्थ नहीं है वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है।

अस्तित्वसमर्थन:—वस्तुमे जो ६ साधारण गुण है उनमें जो पहिले चार गुण हैं उन चार गुणों से इस पदार्थ मे बड़ी व्यवस्था बनी हुई है। अस्तित्व गुणसे पदार्थ है पर अस्तित्वगुण यों उद्दण्ड नहीं हो सकता कि चौकी है ना, तो यह पुस्तक भी है या कमरा भी है, इस प्रकार से सत्त्व उद्दण्ड नहीं हो सकता। इस उद्दण्डताको रोकनेके लिए वस्तुत्वगुण लगा हुआ है, पदार्थ है तो सही पर वस्तुत्वगुण यह प्रकट कर देता है कि यह अपने स्वरूपमे है परके स्वरूपसे नहीं है, पर अस्तित्व और वस्तुत्व दोनों बातेंसे वस्तुका सत्त्व तो ज्ञात हो गया।

परिणमनसमर्थन—पर अब वह पदार्थमात्र सत् ही है। वह कुछ परिणामे नहीं, उसमे परिवर्तन न हो तो वह सत् नहीं रह सकता है। कोई पदार्थ हो और उसकी दशा न हो, अवस्था न हो, रूपक न हो, क्या ऐसा भी कोई पर्यायशून्य, परिणमन शून्य पदार्थ होता है? यदि ऐसा है तो वह पदार्थ ही नहीं है। जब वह पदार्थ है तो फिर उस पदार्थका परिणमनभी अवश्य है। परिणमन न हो तो अस्तित्वका अभाव हो जायगा।

स्वयके स्वय में ही परिणमनकी नियामपकता—इस वस्तुकी रक्षा बताने वाला है द्रव्यत्वगुण। द्रव्यत्वगुणसे वस्तुने यहतो सीखा कि वह परिणम गया, पर यदि वह उद्दण्ड होने लगे, मुझे नो परिणमने का अधिकार मिला है मैं चौकी रूप परिणमू, पुस्तकरूप परिणमू, पुद्गल रूप परिणमू, किसी रूप परिणमूं, तो ऐसी उद्दण्डता वस्तुकी न चल सकेगी। कारण यह है कि आत्माका अगुरुलघुत्त्व आत्म वस्तुमें स्वत. सिद्ध पाया जाता है, जिसका यही काम है कि पदार्थ न वजनदार बन सके और न हल्का बन सके। सो अब हम परिणमेंगे तो किन्तु वजनदार न बन सकेंगे, हल्का न बन सकेंगे, न गुरु बन सकेंगे, न लघु बन सकेंगे। पदार्थ वजनदार बनता है जब किसी दूसरे पदार्थ के गुण उसमें आ जायें और पदार्थ हल्का तब बनता है जब

जब उस पदार्थ के गुण किसी दूसरे पदार्थ में चले जायें। मेरे गुण किसी दूसरे पदार्थ मे जाने लगे तो मैं हल्का हो जाऊगा ऐसा नहीं हो सकेगा, अर्थात् अपने ही गुणरूप परिणमूँगा, दूसरेके गुणरूप नहीं परिणमूगा।

भैया! वस्तुके इस स्वरूपास्तित्वका जब परिचय होता है तो वह पुरुप तो श्रद्धामे अकर्ता हो जाता है। मैं अपने परिणमनको छोडकर अन्य कुछ करने मे समर्थ हूँ ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि पुरुपके नहीं है। तब मैं दूसरे को मारता हूं, दूसरोंके द्वारा मारा जाता हू ऐसी भावनाभी सम्यग्दृष्टिके कैसे हो सकती है। मैं सर्वत्र अपने विकल्प कर रहा हूँ, विकल्पों के सिवाय मैं और कुछ नहीं करता। ऐसा निर्णय जगने पर बाह्य में कर्तृत्वबुद्धि नहीं आती। कर्तृत्वबुद्धि मिटनेसे अपनेको एक अपूर्व शांति प्राप्त होती है।

घातपरिणामविपयक अज्ञानभाव—मैं दूसरे जीवों को मारता हू, दूसरे जीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूं, ऐसा जो अध्यवसान है वह अज्ञानभाव है वह अज्ञानभाव जिसके होता है वह अज्ञानी है और इसी कारण मिथ्यादृष्टि है। जिसके यह अध्यवसान नहीं है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है। अब प्रश्न किया जा रहा है कि यह अध्यवसाय अज्ञान क्यों है?

आउक्खयेण मरणं जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह तं मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणां जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

मरणका कारण आयुक्षय—जीवका मरण आयुके क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है हम दूसरेकी आयु नहीं हर सकते इसलिये उनका मरण हमने कैसे किया? मरण होता है आयुके क्षयसे। आयुके क्षयका निमित्त मर्मघात आदिक भी हैं पर यहा साक्षात् निमित्त की बात चल रही है कि मरण आयुके क्षयके निमित्तसे होता है। क्योंकि जब तक आयु है तब तक मरण नहीं कहला सकता। ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

अकाल मृत्यु—इस सम्बन्ध मे कुछ लोग यह कहते हैं कि अकाल मौत कोई चीज नहीं होती है, जितनी भी मौत होती है वह सब काल मरण कहलाता है, उसमें युक्ति यह देते हैं कि जिसका जब जो मरण होता है वह भगवानने जान लिया। जब मरण होता है तब मरण होगा ही, अत अकाल मरण कहा हुआ। पर अकाल मौतका स्वरूप भगवानके ज्ञानकी दृष्टिसे नहीं है। किन्तु किसी जीवमें आयुके निपेक इतने बधे हैं कि एक एक

समयमें आयुका निषेक खिरता रहे तो यह भव यानी ८० वर्ष रहेगा। इतने निषेक बधे हैं और कदाचित तीव्र रोग हो जाय, शस्त्रघात हो जाय, ऐसी परिस्थितिमें ८० वर्षका समय बराबर निषेक सत्त्व रखने वाला मनुष्य ५० वर्षकी आयुमें गुजर जाता है।

अकाल मरणका कारण—अकाल मरण के समय क्या होता है कि जो बाकी ३० वर्षकी आयुके निषेक हैं वह सब उदीरित होकर ५० वर्षके अन्त में अन्तर्मुहूर्त में खिर जाते हैं। अकाल मौत इसीका नाम है कि यदि कायदे के अनुसार एक-एक समय में एक-एक निषेकका उदय चलता रहे तो यह मनुष्य ८० वर्ष तक जीता, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। किसी व्याधि आदिके निमित्तसे उसका बीचमें ही उदीरणा मरण होगया इसको कहते हैं अकाल मरण।

ज्ञान और होनी स्वतन्त्रता—और जब इस दृष्टिसे देखा जाय कि चूंकि भगवान सर्वज्ञदेवको सब ज्ञात है यद्यपि उनके ज्ञानको बात हम लोगोंको विदित नहीं है और भगवानको भी उस प्रकार का विकल्प नहीं है पर सहज ही ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे प्रभुके ज्ञानमे सर्व कुछ ज्ञात है पर वह तो इस प्रकार ज्ञात है ना, जैसा जो हुआ है, हुआ था, होगा, भगवान के ज्ञान ने जाना इस कारण द्रव्यको नियत होना पड़ा-ऐसा तो नहीं है। और पदार्थों म अमुक परिणमन है, होरहा है, होगा इस कारण भगवानने जाना यह भी नहीं है। भगवानने भी अपनी ही शक्तिकी परिणतिसे जाना पर जाननेमें विषयभूत पदार्थ हुआ, परिणमन हुआ, होनी हुई पर उन होनियों का आश्रयभूत या विषयभूत भगवानका ज्ञान नहीं हुआ।

ज्ञान और होनी में विषय विषयी भाव.—जहां तक हम भगवानके ज्ञानमे और इस लोकके परिणमनमे बाह्यकार्य कारण भाव समझना चाहें तो यह तो कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थोंको विषय करके भगवानका ज्ञान इस प्रकार परिणमा, पर यह नहीं कह सकते कि भगवानके ज्ञानका आश्रय पाकर, विषय पाकर, निमित्त पाकर पदार्थ यों परिणम गया। यद्यपि दोनों ही जगह परिणमनकी स्वतन्त्रता है अर्थात् कोई भी पदार्थ किसी परकी परिणतिको लेकर नहीं परिणमता। प्रत्येक पदार्थ अपनीही परिणतिको लेकर परिणमा करता है फिर भी जैसा हुआ, जो है, जो होगा, इसको विषय रूपसे करके भगवानने जाना इस धारणासे या इस ज्ञानको आश्रयमात्र करके या निमित्त करके पदार्थमे इसप्रकारका परिणमना हुआ, यह नहीं कहा जासकता। और, ए दोनो जगह स्वतन्त्र परिणमन। अपेक्षा और आधीनता न भगवान

के ज्ञानको पदार्थकी है और न प्रभुके ज्ञानको पदार्थ की अपेक्षा है, पर ऐसा ही सहज ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है कि इस प्रकारके ज्ञानकी स्वच्छ वृत्तिमें अपने आप ही वह प्रकाश चल रहा है। वह ज्ञेयाकार परिणमन चल रहा है, उस प्रकारका जिस प्रकार कि लोकमें पदार्थ अवस्थित है।

आउक्खये मरण —आकाल मृत्यु भी होती है उसमे भी मरण होता और आयुके क्षयके निमित्तसे भी मरण होता है ऐसा जिनवर देवने प्रज्ञापित किया है। अकाल मृत्युमे आयुका क्षरण अन्तर्मुहूर्त में एकदम उन सब निषेकों का हो जाता है जिनको अगले कालमे खिरने को था, वे एकदम इस अन्तर्मुहूर्त मे खिर गये इस कारण अकालमौत है।

अकालमृत्युसे मरणके सम्बन्धमें एक दृष्टान्त —दोनों ही स्थितमें आयुक्षय से मरण हुआ। जैसे दृष्टात लीजिए कि एक छोटी मोटर १ लीटर पेट्रोलमें ५ मील भागती है, और २० लीटर पेट्रोल पडा हुआ है तो उसे १०० मील तक चलना चाहिये, ऐसी उसमे शक्ति है, पेट्रोलभी भरा है, और चलती भी है। कदाचित वह मोटर ५ मील जाकर किसी पेडसे टकरा जाय, पेट्रोलकी टंकी फूट जाय, वह तो ५ मील ही चल सकी। इसके वाद मोटर आगे न जा सकी। इसमे तैल भरा हुआ था, हिसावसे चलती तो वह १०० मील चलती, पर ५ मील ही चलनेके वाद एक वृक्षसे एक्सीडेन्ट हो गया तो उस ही जगह सारा का सारा पेट्रोल खिर गया इसलिए आगे न वढ़ सकी, यह वात तो ठीक है, और बात भी ठीक है कि वह सारा पेट्रोल असमय मे खिर गया इसी तरह जिन जीवोंकी अकालमृत्यु होती है उनकी शेष आयु के निषेक अन्तर्मुहूर्तमे ही एकदम खिर जाते हैं, इसे उदीरण कहते हैं। तो सर्व निषेक जब खिरे तव उसका भव छूटा–किन्तु वह सब जो निषेक स्थितियोंसे पहिले खिर गया उसका कारण है उदीरणा और इसीको कहते हैं अकालमृत्यु।

अकालमृत्यु रहित जीव–कुछ जीव ऐसे हैं जिनकी अकालमृत्यु नहीं होती है। जैसे भोगभूमिया मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी तथा चरमशरीरी, जिनको उस ही भव से मुक्त होना है इनकी अकालमृत्यु नहीं होती है। और कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यञ्च विकलत्रय स्थावर जीव इनकी अकालमृत्यु होती रहती है। चाहे अकालमरण हो या कालमरण हो, मरण आयुक्षयसे होता है।

घातके अध्यवसाय को अज्ञान कहे जानेका कारण —यहा यह वतला रहे हैं कि ऐसे परिणाम करनाकि मैं किसी जीव को मारता हूँ और किसी जीवके द्वारा मैं मारा जाता हूँ यह अज्ञान परिणाम क्यों है? अज्ञान यों है कि ऐसा

होता नहीं और मानते हैं, इसलिये इस अध्यवसायको अज्ञान कहते हैं। मेरे द्वारा किसी दूसरे जीव की मौत होती नहीं है, उसकी मौत उसकी आयुके क्षयसे होती है।

किसीसे परका घात होनेके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर—प्रश्न–कदलीघात किया जाता हो, कदली बास आदिके पेड़ोंपर शस्त्र चलाये जाते हों वे पेड तुरन्त मर जाते हैं, या किसी कीड़े वगैरहको मसल देते हैं तो तुरन्त मर जाता हैं, उसे मसला और तुरन्त मरा क्या यह असत्य है ? उत्तर–भैया ऐसा होनेपर भी द्रव्यके स्वरूपको निरखते हुए निर्णय करो कि वहां जो-जो द्रव्य हैं उन-उन द्रव्योंने क्या-क्या काम किया। उपादानसे और निमित्त रूपसे वह द्रव्य किस बातका निमित्त बना इन दोनो रूपों से निर्णय करने पर इसका समाधान होगा सो सुनिये।

आत्माका कार्य:—प्रथम तो यहां अन्दरसे चलिये। यह मैं आत्मा एक चैतन्यस्वभावरूप हूँ, अमूर्त हूँ, इसमें जानने, देखने, रमने आनन्द पाने आदिकी अनेक शक्तिया हैं, और उन शक्तियोका पुञ्जभूत यह मैं आत्मा हूँ। यह आत्मा जो कुछ कर सकेगा वह अपना परिणाम कर सकेगा, अपने परिणामसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने मे यह आत्मा समर्थ नहीं है।

लोकव्यवस्था:–यह वस्तुके स्वरूपास्तित्वको निरखकर ध्यानमें लाना है। प्रत्येक द्रव्य मात्र अपने गुणोंमें अपना परिणमन कर पाते हैं और इसी कारण यह लोक व्यवस्था बनी हुई है, निमित्त नैमित्तिक भावका होना और प्रत्येक पदार्थका मात्र अपने गुणों मे ही परिणमन कर सकना, इन दो बातों की वजह से यह लोक टिका हुआ है, व्यवस्था बनी हुई है। इनमें से यदि कोई एक अंश निकाल दिया जाय, प्रत्येक द्रव्य अपनेमें अपने गुणोसे परिणमता है एक यह अंश, और परस्पर एक दूसरेको निमित्तको पाकर यह सब दृश्यमान रचना चल रही है एक यह अंश, इन दोनों अंशोंमें से यदि कोई अंश निकाल दिया जाय तो लोक व्यवस्था नहीं बन सकती।

द्रव्यका अपने स्वयमें ही परिणमन है यह न माननेपर आपत्ति—मानो यह अंश निकाल दें कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुणोंमें अपनी परिणति से परिणमता है, यह न माने तो इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी द्रव्य किसी द्रव्यकी परिणतिसे परिणम गया। तब हुआ क्या कि कुछ इसमें नियत स्वरूप नहीं रहा। एक द्रव्य दो द्रव्योंका परिणमन कर चुका। तो जब एक कोई द्रव्य किसी रूप परिणम गया तो अब यह बतलावो कि किस द्रव्यका सद्भाव माना जाय ? और यों कोई किसी रूप परिणम जाय कोई किसी रूप बन

जाय तो सर्व सांकर्य हो जायगा। सांकर्य क्या, सर्वका अभाव हो जायगा, सो यह विशेषता टाली नहीं जा सकती।

विकार परका निमित्त पाकर होता है यह न माननेपर आपत्ति—अश तोड़ दिया जाय कि परस्परके निमित्तभाव मे यह दृश्यमान परिणमन चल रहा है अर्थात् निमित्तके विनाही यह सारा लोक अपने रूपसे द्रव्यमे परिणम रहा है यो मानकर उस अशके तोड देनेसे यह आपत्ति आयी कि इस पदार्थमे उन-उन रूपमे परिणमने की कला है, जितना भी विरुद्ध विकार परिणमन होता है उन-उन रूपमे भी परिणमने वालोमे अपने स्वभावसे एक कला है। जब अपने स्वभावसे ही एक कला होगई तो अब उन्मत्तवत अटपट परिणमने लगा। कुछ उसका कायदा कानून युक्ति कोई ढग नहीं बैठ सकता। कोई जीव है वह केवल ज्ञानरूप परिणम जाय, अब रागरूप परिणमे तो कोई वहां व्यवस्था नहीं बन सकती, इस कारण ये दोनों ही बाते व्यवस्थाको साबित करती है।

आत्माने क्या किया—अब प्रकृत बातमे चलिए। किसी पुरुषने किसी कीडेको मसला और वह मृत्युको प्राप्त होगया तो इस जगहमे एक उपादान दृष्टिसे और एक साक्षात् निमित्तकी दृष्टिसे वर्णन करते हुए चले। उस समय उस पुरुषने उस पुरुषका जो आत्मा है उस आत्माने केवल अपने परिणाम कर पाया है। यह उपादान दृष्टिसे कथन चल रहा है उस आत्मा ने तो हाथभी नहीं हिलाया, अगुलीभी नहीं मटकायी। इस कीडेको उस आत्माने मसलभी नहीं पाया। वह तो मात्र अपनेमे अपने भाव कर रहा है।

व्यापादनसमय आत्मा किसका निमित्त हुआ—अब आत्मा किस चीजका निमित्त बन रहा है इसपर भी दृष्टि दे। अपने ज्ञान, अपनी इच्छारूप परिणमता हुआ वह आत्मा वह पुरुष,समग्र उपादानकी दृष्टिसे देखनेपर यह भी साथ लगा लीजिये कि ज्ञान और इच्छाके साथ प्रदेश परिस्पदरूप परिणम रहा वह आत्मा क्या कर पाता है तो उसका काम हुआ कि ज्ञान हुआ, इच्छा हुई और प्रदेश परिस्पदरूप प्रयत्न हुआ। इसके आगे उसका और कोई काम नहीं हुआ। किन्तु इस प्रकारसे परिणमते हुए उस आत्मा के निमित्तसे शरीरमे रहने वाली वायुका संचरण हुआ। सो ज्ञानेच्छा योग परिणत आत्मादेह वायुके संचरणका निमित्त बना।

आत्मा में निमित्तों का विश्लेषण—इस भाव में और भी इसका विश्लेषण करके निमित्तपना देखे तो ज्ञान की ऐसी स्थिति जहा कुछ हो रही है,

कुछ नहीं हो रही है, ऐसी स्थिति उसके वर्तमानमें इच्छाका निमित्त बन रही है और वह इच्छा आत्माके परिस्पंदका निमित्त बन रही है और समग्ररूपमें यह आत्मा ज्ञानरूप इच्छारूप और योग परिस्पंदरूप परिणमा, ऐसे परिणमते हुए जीवका निमित्त पाकर शरीरकी वायुका संचरण हुआ।

व्यापादनके समय पर पदार्थोंमें निमित्तपना:—शरीरकी वायुके संचरण होनेका निमित्त पाकर ये हस्त आदिक अंग चले, और हस्तादिक अंग चलाने का निमित्त पाकर उस कीड़ेके शरीर पर आघात पहुंचा, और कीड़ेके शरीर पर आघात पहुँचनेका निमित्त पाकर मर्मस्थान भिद गया और चूंकि वह द्रव्य प्राणका स्थान था तो उसके भिद जानेसे चूंकि आयुके उदयका नो कर्म अब नहीं रहा तो आयुके उदयका नो कर्म मिट जानेसे आयुकर्ममें उदीरणा हो गई, इस तरह निमित्तके बाद निमित्त, निमित्तके बाद निमित्त ऐसी लम्बी परम्पराके बाद, हुआ वह सब उसी समयमें पर निमित्तोंमें परम्परा लग गई, यों आयुका क्षय हुआ।

वस्तुत्वदृष्टिसे निष्कर्ष:—यह स्वरूप दृष्टिसे वस्तुत्व दृष्टिसे कथन है। लोक व्यवहारमें तो यह कहा ही जायेगा कि वाह! अमुकने देखो अमुकको मारा। तो पर मरण क्या चीज कहलाती है, यह मरने वाला पुरुष क्या है और किस प्रकारसे ऐसी स्थिति बनी है, इसका विश्लेषण किया जाता है तो ये सब बातें कहनी होती हैं। तो इस पुरुषने अपना परिणाम किया और उस परिणामके कारण इसे बंध हुआ। वहां दूसरे जीवमें क्या गुजरा। उस गुजरनेके कारण बंध नहीं हुआ, पर इसने जो कुछ गुजरनेका मूलभूत निमित्तभूत जो खोटा परिणाम बनाया उस अशुभ परिणामके कारण उसे बंध हुआ।

किसीके द्वारा परका घात हो सकनेके अभावकी दृष्टि—तो स्थिति ऐसी है कि इस आत्माने उसका मरण नहीं किया। मरण हुआ आयुके क्षयसे और असमयमें जो आयुका क्षय हुआ उसमें निमित्त हुआ मर्मस्थानका भिदना, या जो कुछभी परिणमन हुआ, मर्मस्थानके भिदनेका निमित्त हुआ उसका ही वास्तवमें संघट्टन हुआ, उस संघट्टनमें निमित्त हुए दूसरे जीवके शरीरके अंगोंका उस प्रकारका हलन चलनका परिणमन, और उस घातक पुरुषके शरीरका जो इस प्रकार अंगपरिणमन हुआ उसका निमित्त हुआ उसके शरीरके वायुका संचरण और वायुसंचरण का निमित्त हुआ योग परिस्पंद और योगपरिस्पंदका निमित्त हुआ इच्छाका करना इस प्रकारकी यह परम्परा बनी हुई है जहाँ यह व्यवहार बन गया, बीचके निमित्तकी दृष्टियोंको

तोड़करके लोग यह कहने लगे कि मैंने जीवको मारा उस प्रकार जो मरण हुआ है उसका साक्षात् निमित्त आयुकर्मका क्षय है। जब ऐसी वस्तुकी स्थिति है तब यह कहना युक्त नहीं है कि मैं जीवको मारता हूँ या जीवके द्वारा मैं मारा जाता हूँ।

स्वरूपदृष्टिमें निष्कर्ष—यहाँ स्वरूपदृष्टिका सम्बन्ध रखते हुए सोचना है। यों तो इन जीवोंके सब निमित्तकी दृष्टि ओझल करके यह व्यवहार कहा ही जाता है कि मैंने मारा और दूसरे के द्वारा मैं मारा गया। जब मैं दूसरे जीवकी आयुको हर ही नहीं सकता तो फिर मेरे द्वारा किसीका मरण ही कैसे होगा। दूसरे ऐसी बात सोचनेमें पर कर्तृत्वका आशय बना हुआ है। मैं परको यों कर देता हूँ ऐसा सोचना मिथ्या है।

परके द्वारा परके जीवन और मरण दोनोंका अभाव—भैया! चूंकि यह मारनेका मरनेका प्रकरण है इसलिये इस सम्बन्धमें कुछ थोड़ा सा यह कथन कर्णकटु हो जाता है कि देखो कैसी अनहोनी बात हो रही है कि मारते हैं और कहते हैं कि मैंने नहीं मारा किन्तु जब जीवको जिलानेका प्रकरण आयगा तब यही कहा जायगा कि मैं दूसरे जीवोंको जिलाता हूँ ऐसा भाव करना भी अज्ञान भाव है क्योंकि किसी बच्चे को प्यार भी करें, गोदमें लिये रहें और वह रोगी है, मरणहार है, कितनाभी बचाना चाहें पर वह बच्चा न रहे तो वहां यह बात जरा जल्दी समझमें आ जाती है कि मैं दूसरे जीवको जिला नहीं सकता। तो जैसे दूसरे जीवको हम जिला नहीं सकते वैसे ही किसी दूसरे जीवके प्राणोंका हरभी नहीं सकते।

जीवन मरणके निर्णयमें सुगमता व असुगमता—भैया! परके जिलानेकी बात हो तो यह जरा जल्दी समझमें आ जाता है और मारनेका प्रकरण बताया जारहा हो तो विलम्बसे समझमें आता है क्योंकि वहां ऐसा लगता है कि वाह हमने ही तो मारा। यहाँ ऐसा ही लगता है कि वाह जिला तो देता हूँ। जिलाने पर वश कम है और मारनेपर वश निमित्त दृष्टिसे सुगम है, इस कारण इन दोनोंमें भिन्नताकी बात समझाते हुए मैं परके मारनेकी बात जरा कम बैठी और जिलानेकी बात भिन्नतामें सुगमतासे बैठ जाय, यह अन्तर है। जैसे दूसरेको जिलादेना हमारे वशकीबात नहीं है इसीप्रकार दूसरे जीवका मारदेना भी हमारे वशकी बातनहीं है।

स्वरूपदृष्टिको न भूलकर निर्णय करनेका संकेत—यह स्वरूप दृष्टि से कथन है। उस दृष्टिको भूलकर स्थूल दृष्टि रखकर बात समझा जाय तोफिर समझमें भी न आए और कोई विडम्बना भी बन कर जाय। यहां यह

निमित्तनैमित्तिकता होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्य:—जीवने खोटा परिणाम किया सो उसका निमित्त पाकर उसमें ऐसाही परिस्पन्द हुआ जिसकेनिमित्तसे शारीरिक वात (वायु) का सचरण हुआ कि वे अंग उठे और पर प्राणियों पर अघात हुआ और परप्राणी गुजर गया इतनेपर भी स्वरूप सीमाको निरखने पर यह बात बिलकुल सुनिर्णीत हो जाती है कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका प्रभुनहीं है। जब ऐसी स्थिति मे कोई मुझे घात रहा हो (व्यावहारिक भाषामें बात कही जा रही है।) उस स्थितिमें भी दूसरेके द्वारा मेरा कुछ नहीं किया जारहा है । दूसरे लोग अपने आपमें अपने कषाय के अनुकूल अपनी चेष्टा कर लेते हैं। वे अपनी कषाय चेष्टासे अतिरिक्त अन्य कुछ करनेमें समर्थ नहीं हैं, पर यहा यह मैं अपने अज्ञानभावके अनुकूल, अपनेकषाय के अनुकूल अन्य पदार्थको विषयकर सुख और दु:खका क्षोभमय परिणाम बनाया करते हैं।

अपना अपने आपमें परिणामन:—मैं दूसरोंके द्वारा मारा जाता हूँ ऐसा अध्यवसाय बनाना ज्ञानी जीवके नहीं होता है क्योंकि वे जानने हैं कि मरणतो जीवका अपनी अपनी आयुकर्मके क्षयमे ही होता है आयुका क्षय न हो तो मरण कराया नहीं जासकता। अपनी अपनी आयुकर्म अन्य अन्य जीवों के द्वारा हराजाय ऐसा नहीं है प्रत्येककर्म अपने ही भोग उपभोगसे नष्ट हुआ करता है। किसी का कर्म कोई दूसरा भोगले यह नहींहो सकता है। जिसने कर्म बाँधा वही भोगता है और कदाचित भोगनेसे पहिले कर्मोंकी निर्जरा करदे यहभी उसने ही किया है। अपना कार्य खुदही करसकते हैं। किसीका कोई दूसरा कर्म नहीं करता। किसी एक कार्यमें यदि बहुतसे लोग सम्मिलित होते हैं और सम्मिलितहोकर उस कार्यको निष्पन्न करते हैं तो वहाँ भी सबसब जीवोंने अपना-अपनाकार्य किया है न कि किसी एक कार्यको मिलकर किया है। भले ही उन सबकी चेष्टाओंके निमित्तसे कोई एक कार्य बनजाय पर उन्होंने स्वयं अपने आपमें अपना परिणमन किया है ।

कर्त्तव्य के आशय में अज्ञानमयता—भैया ! कोई किसीका परिणाम बना नहीं सकता, इसलिये किसी भी प्रकार दूसरा दूसरेका मरण करदे यह नहीं होसकता है। तो मैं मारता हूँ या मारा जाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय है वह निश्चित अज्ञानका अध्यवसाय है। इस प्रकरणमें मारने और मारे जानेकी बात कही जा रही है। आगे जिलाने और जिये जानेकी बात कही जायगी। फिर सुख दु:ख देने और न दिये जानेकी बात कही जायगी। और फिर इस प्रकार व्रतके करने और न किये जानेकी बात कही जा सकेगी। उन सब बातोंमें तो यह स्पष्ट होता रहेगा कि ठीक कहा जा रहा है पर मरने और

मारे जानेकी बात कुछ देरमें बैठती है कि मैं क्या किसीको नहीं मारता हूँ, मैं क्या किसीसे नहीं मारा जाता हूँ ? हाँ, हाँ, पर द्रव्यका कुछभी परिणमन किसी परके द्वारा नहीं किया जाता।

अन्यके परिणमनमें हितू की भी असमर्थता—जैसे कि हम दूसरेको न दे सकते हैं न दूसरेके द्वारा हम सुखी किये जा सकते हैं-यह बात सुगमतासे बैठ जाती है। जब मैं अधीर होऊंगा, क्षोभमें होऊंगा तो मेरे हितूजन, परिजन, मित्रजन कितना समझाते, कितना सुखी करनेकी चेष्टा करते हैं, पर यहाँ उनके समझाये जानेके कारणसे कुछ नहीं गुजरता है। समझमें तब आता है कि हां कोई किसीको सुखी दुःखी नहीं कर सकता, जिला नहीं सकता, ऐसीही बात तो यहां है, ऐसा परिणाम करना कि मैं दूसरेको मारताहूँ या दूसरेके द्वारा मारा जाता हूँ यह परिणाम अज्ञानमय परिणाम है। पर ज्ञानी जीव तो चूंकि भेद विज्ञानमें रत है, प्रत्येक पदार्थको उसके स्वरूपकी सीमामें देखनेकी प्रकृति वाला है इस कारण उसके अज्ञानमय परिणाम नहीं होता।

स्वरूपसीमाकी प्रतीतिकी ज्ञानीमें प्रकृति—जैसे कोई मलिन पुरुष दूसरेके दोषको देखनेकी प्रकृति वाला होता है, कोई स्वच्छ पुरुष दूसरे के गुणों के देखने की प्रकृति वाला होता है ऐसे ही मिथ्यादृष्टि पुरुष जिस किसी निमित्तसे किसी उपादानमें कुछ परिणमन होता है वहाँ निमित्तने ही तो परिणमन किया है ऐसा देखनेकी प्रकृति वाला है-मैंने ही तो मारा, जिलाया, सुखी किया आदि रूप अपनेको कर्ताके रूपमें, अधिकारीके रूपमें, प्रभुके रूप में देखनेकी प्रकृति वाला है किन्तु ज्ञानी पुरुष सर्वत्र उन उन पदार्थोंके स्वरूप सीमामें देखनेकी प्रकृति वाला है। उसके व्यवहारमें भी कभी लगे रहने पर भी स्वरूप सीमाकी स्वतन्त्रताकी प्रतीति वहासे नहीं हटती।

हितरुचि—जैसे किसी बड़े दुःखसे दुःखी पुरुषको अपने दुःखकी प्रतीति नहीं मिटती चाहे वह बड़ा स्वादिष्ट भोजन कर रहाहो, चाहे वह किसी बड़े आराममें पहुंचाया जा रहा हो पर उसे दुःखमयताकी प्रतीति रहती है इसीतरह सम्यग्दृष्टि पुरुषको चाहे वह दूकान करता हो, घर रहता हो, कहीं बैठा हो, किसी प्रकरण में उसे पदार्थोंके स्वरूप सीमाकी, और अपने आपके सबसे अलग केवल अपने स्वरूपमात्रकी प्रतीति नष्ट नहीं होती।

उपयोगी वृत्ति—ऐसा भेद विज्ञानी जीव इस आनन्दमय आत्मतत्त्वकी प्रतीतिके कारण तो यथायोग्य अनुकूल रहताही है पर किसी क्षण जब वह रागद्वेष रहित शुद्ध आत्मतत्व का सम्वेदन करता है उस कालमें उत्पन्न हुआ जो परमानन्द है उसके आस्वादनमें रत हो जाता है। या ऐसी उपयोग परि-

स्थिति उत्पन्न होनेका कारण है समता परिणाम। यह जीव योग और उपयोग स्वरूप है। है तो ज्ञानानन्दस्वरूप किन्तु इसकी जो वृत्ति होती है वह योग और उपयोग रूपसे होती है। सो इस छद्मस्थ अवस्थामें योग तो परिस्पंदके रूपमें फैलता है और यह उपयोग खण्ड-खण्ड ज्ञानके रूप मे फैलता है। जब आत्माकी शुद्ध अवस्था होती है तब यह योग निष्क्रिय स्थितिमें रहता है और यह उपयोग अर्थ परिणमन रूपसे अपने आपमें भी ज्ञानप्रकाश करते हुए इस झिलमिलाहट, चकचकाहटके रूपसे यह शांत गम्भीर होता हुआ प्रवृत्त रहता है।

परकी अटकमें उपयोगकी दो धारा—भैया! यह उपयोग एक प्रकारका है किन्तु जब यह अपने स्रोतको छोड़कर बाहरसे अपनी धाराका प्रवाह लेता है तो बाह्य विषयोंसे अटककर इसकी दो धारायें बन जाती हैं। जैसे किसी स्रोतस्थानसे चली आयी हुई एक मोटी धारा किसी चीजसे टकराकर दो धाराओंके रूपमें बन जाती है इसी प्रकारसे यह परिणाम आत्माकी बाह्य वृत्ति, बाह्य विषयोंसे टकराकर दो धारामें वह निकलता है, कुछ रागरूप और कुछ द्वेषरूप। न हो किसी बाह्य विषयोंका ख्याल, न किया जाय किसी पर वस्तुका ध्यान, तो इस उपयोगमें ये दो धारायें कैसे बन जायेंगी रागरूप बन जाना और द्वेषरूप बन जाना जब राग और द्वेषरूप दो धारायें हो जाती हैं तो इनकी छटनी होने लगती है, कौन उसे भला है कौन उसे बुरा है।

जन्म और मरण—जीवलोक जीवनसे अपनेको लाभ मानता है और मरणसे यह अपनी हानि मानता है। पर हे आत्मन्! तू तो जन्म और मरणसे परे है, तेरा स्वरूपतो सहज ज्ञान है ना, जिससे तेरा निर्माण होता है। निर्माण कब हुआ। अनादिसे ही जैसा स्वरूपमय तू है वह तो ज्ञान स्वभाव है ना, उसका जन्म क्या और मरण क्या? उपाधिवशसे यह ज्ञानात्मक चेतन पदार्थ एक विलक्षण पर्यायमें परिणित हो जाता है। देह और जीव इन दोनोंका एक बन्धन होजाता है उसका नाम जन्म है और जब यह देहका विनाश हुआ तो उसका नाम मरण है। पर स्वरूप दृष्टिसे निरखें तो न उस आत्माका जन्म है और न मरण है पर मोहग्रस्त होनेके कारण इसे जीवनतो हितकर मालूम होता है और मरण विनाशकर मालूम होता है,

ज्ञानीकी जन्म और मरण में समता—भैया! जिसे अपने आत्मा के कार्य की धुन है, जो अपने आत्मा से ही नाता रखता है ऐसा पुरुष जन्म और मरणमें समता परिणाम रखता है। यहा से गया तो क्या है। कुछ यहाँ था तो नहीं। जो परिचित लोग हैं वे साथ न रहेंगे तो न सही उससे बिगड़ा

क्या ? मेरी सिद्धि दूसरे जीवोंके कुछ ख्याल कर लेनेसे कुछ विचार बना लेनेसे नही होती है, न उससे मेरा सुधार है अथवा बिगाड़ा है। यहां रहा तो क्या कहीं रहा तो क्या। मैं अपने उस ज्ञान स्वरूपको देखते हुये रहूँतो लाभ है, चाहे यहां होऊं, चाहे किसी पर भवमें होऊं अथवा किसी भी स्थितिमें होऊं। और मै अपने इस याथार्थ स्वरूपको देखता हुआ न रहूँगातो क्लेशतो प्राकृतिक ही हैं। यहां होऊं तो क्लेश है, इस कारण क्लेशोंसे दूर होनेके लिए, कल्याणमय होनेके लिए समता परिणाम होना अत्यावश्यक है।

जन्म मरणसे सुधार व बिगाडकी बुद्धिका अभाव—इस भेद विज्ञानी जीव , वहा समता परिणाम चल रहा है। जीवन और मरण उसे एक समान ... आते हैं। न मरणमें विनाश समझ रहा है, किसका ? इस सद्भूत आत्माका, और न जीवनमें लाभ समझ रहा है, किसका ? इस ज्ञान स्वरूप सहज आनन्द निधान इस आत्म तत्वका। यों जीवन और मरण दोनोंमें समता परिणाम रखने वाले भेद विज्ञानी जीवको इन विकल्पोंमें रति नहीं होती। जहां अन्तरमें देखा वहा आनन्द और ज्ञानका प्रसाद छाया हुआ है, जैसेही उसने अपने इस स्वरूपके निवाससे हटकर इन इन्द्रियोंकी खिड़कियोंसे बाहर झांकने वाला हुआ कि इसे फिरये सब दिखने लगते हैं, ये नर हैं, ये परिजन हैं, ये विरोधी हैं, ये मित्र हैं, अमुकसे अमुकको यों हो गया, नया नया दर्शन होने लगते हैं।

अपनी शुद्धता का दर्शन—भैया ! ज्ञानी जीवका यही यत्न होता है कि वाह्य विषयक विकल्प छूटें और मुझे अपने आपमें अन्तरमें शुद्ध स्वरूपके दर्शन हों। हमसर्वत्र चूंकि अपने आपकोही परिणमाया करते हैं, चाहे अव्रत अवस्थामें हों, चाहे व्रत अवस्थामे हों, भोगोंकी स्थितिमे हों, परोपकार की स्थितिमें हों, सर्वत्र हम अपने आपको ही परिणमाया करते हैं जब अनन्त ज्ञानात्मक परमात्माके स्वरूपकी भक्ति कर रहा हूं तबभी उस अपने आपको ही परिणमा रहा हूँ। मैं परमात्मतत्व विषयक अनुराग रूपसे कहीं अपने स्थान को छोड़कर परमात्माके स्थानमें नहीं चला गया। कदाचित वहीं परमात्मा हो, और वहीं मैं होऊं एक क्षेत्रमें होऊ तो भी उस परमात्म आराधनाका स्वरूप अपने स्वरूप स्थानको छोड़कर परमात्माके स्वरूप स्थानमें, प्रदेशमे नहीं चला गया। वस्तुके स्वरूपकी सीमा अभेद होती है। हां उस समय जो ध्यानका संस्थान बना वह इस ही प्रकारसे बनाकि उसके विषयमे वाह्य वस्तु विषय भूत हुई हैं। सो परमात्म स्वरूप विपय भूत ही रहता है पर हम उस स्वरूपको कुछ करदें, सुधारदें, बिगाड़दे, पूजलो, ये सब नहीं कर सकते। वे सब कुछ अपने परिणमन रूपही हो रहे हैं।

मेरे परिणमनकी शैली पर भक्ति व द्रोहकी निर्भरता—तो हम अपने आपको किस रूपसे परिणमाये कि वास्तवमे परमात्माकी यथार्थ भक्तिहो जाय ? मै अपने आपको किस रूप परिणमालू कि मैं परमात्माका द्रोही होऊं । यह सब अपने प्रदेशोंमे अपने आपके परिणमानेके आधार पर निर्भर है । तब हमें यह यत्न होना चाहिए कि मैं अपनेको केवल अर्थात जैसा यह अकेला स्वय अपने स्वरूपको रखता है उस रूप जाननेका यत्न करू और इस यत्नके दौरानमें चूंकि क्षणिक उस शुद्ध परमात्म स्वरूप पर द्रष्टि पहुँचती है जो अतरंगमे और बहिरगमें सर्वत्र पूर्ण शुद्ध है और चूकिजो शुद्ध होता है वह अलगसे नहीं होता है, जो था नही रहता है । कुछ वहा नवीन चोज नहीं बनायी जाती है पर उपाधि और विभावके सम्बधसे जो चीज दवी हुई थी, व्यक्ति नहीं हो सकती थी वह चीज अब उपाधि और विभावके दूर होनेसे व्यक्तहो गई है । यह वही है जो अनादिसे थी, अब वहीकी वही व्यक्तहो गयी है ।

ज्ञानकी यथार्थताके परिचयकी परीक्षा समता—इस कारण मेरा और प्रभुका स्वरूप समान है, मैं भी चेतनद्रव्य हूँ, वेसाही स्वभाव रखता हूँ, वैसा ही मेरा स्वरूप है इस कारण अपने आपको केवल ज्ञानानन्द मात्र रूपसे अनुभव किये जाने पर अलौकिक आनन्द जगता है और परमात्म स्वरूपकी यथार्थभक्ति बनती है । यह सब प्रताप है यथार्थ ज्ञानबलका । यथार्थ ज्ञानबल प्रकट हुआ है इसकी पहिचान है समता । ज्ञानी पुरुषका जीवन और मरणमे समान परिणाम है ।

ज्ञानीके लाभ व अलम्भसे समानता—किसी पर वस्तुके लाभ और अलाभ में भी ज्ञानका समान परिणाम है । कोई पर चीज मेरे पासआ गई तो इससे ज्ञानानन्द स्वरूपी इस आत्मतत्वमें क्या सुधार बन गया । कोई चीज मुझसे वियुक्तहो गई तो इससे ज्ञानानन्द स्वरूप मुझ आत्मामें कौनसा बिगाड़हो गया । यथार्थ परिज्ञान करने वाले जीवका लाभ और अलाभमें समता परिणाम रहता है ।

सुख दुख व शत्रु मित्रमें समानता—सुख और दुख आनन्द गुणके विकार हैं । सुखमें भी क्या हित है और दु खमें भी क्या अहित है । इन्द्रियोंको जो असुहावना लगे उसे दु ख कहते हैं । इन दोनोंमें हीतो क्षोभ बसा हुआ है शत्रु और मित्रमें मेरा कहाँ सुधार और बिगाड़ है । और किसी परमात्मा पर शत्रुपने की दृष्टि बनायातो यही दृष्टि तेरी शत्रु है तुमे शत्रुकी बरबादी करना है ना,तो किसीको शत्रु माननेकी जो अपवित्र दृष्टि है इस दृष्टिकी

बरबादी कर। कहां शत्रु है? इसी तरह कहीं मित्रभी नहीं है। शत्रु और मित्रमे समान परिणाम होता है ज्ञानी पुरुषका। इसी प्रकार निन्दा और प्रशंसा, इन दोनोमे समान परिणाम होता है ज्ञानी पुरुषका।

ज्ञानीकी दृढ़ शुद्धदृष्टि—वह आत्मस्वरूपका रुचिया ज्ञानी पुरुष अपने आपकी दृष्टिमें इतना मजबूत है कि वह अपने आत्मस्वरूपका आश्रय छोडना नहीं चाहता। ऐसे दृढ समरसी ज्ञानी पुरुषके अध्यवसाय नहीं होता। जीवोंका मरण उनकीही आयुके उपभोगसे जो आयुका क्षय होता है उसके निमित्तसे होता है तुम दूसरेका न मरण करते हो और न तुम्हारे द्वारा दूसरे का मरण होता है। तुमतो एकमात्र अपने भावोंको किया करते हो, सो पराश्रयी भावोंका परित्याग कर और स्वाश्रित भावोंका आदर करो। स्वाश्रित भावोंका आदर करनेसे तेरे बंधन समाप्त होंगे, संकट समाप्त होंगे।

इस प्रकार जीवघातके सम्बन्धमे आशय बनाने वाली बातका निरूपण करके अब जिलाने और दूसरे के द्वारा जिए जाने के अध्यवसायरूप परिणामोंकी बात कहेंगे। इस सम्बन्धमे जिज्ञासुने यह प्रश्न किया कि मरण का अध्यवसाय करें तो यह अज्ञानरूप है और जीनेका अध्यवसाय करें तो यह तो मरनेसे उल्टीबात है ना। मरने विषयक अध्यवसाय अज्ञान है तो इससे उल्टा जो जीने विषयक अध्यवसाय है वह तो अज्ञान न होगा? तो उत्तरमे कहते हैं कि जीने वाले के अध्यवसायके सम्बन्धमें तो बात क्या करते हो उसका समझना तो बड़ा सुगम है। मैं दूसरेको नहीं जिलाता हूँ और न दूसरेके द्वारा मैं जिलाया जाता हूँ इसीके सम्बन्धमें अब गाथा आरही है।

जो मगणदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

मै दूसरे जीवोंको जिलाता हूँ व मैं दूसरे जीवोंके द्वारा जिलाया हुआ रहता हूँ इस प्रकारका जो परिणाम है वह निश्चयसे अज्ञानरूप है। यह परिणाम जिसके होता है वह मूढ है, अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी है, किन्तु ज्ञानी जीव तो इन परिणामोंसे विपरीत है।

जन्मः—भैया! जन्म कहते हैं उत्पन्न होनेको। कोई पदार्थ न हो और नया उत्पन्न हो ऐसा नहीं होता। जो कुछ है वह सब अनादिसे है। वर्तमान का परिणमन जरूर भिन्न-भिन्न है। यह परिणमन पहिलेसे न था और आगे भी न रहेगा, किन्तु जिस पदार्थका परिणमन होता है वह पदार्थ तो अनादि से ही है। उसका जन्म परमार्थसे नहीं होता और जो जन्म होता भी है वह

जन्म किसी दूसरेकी परिणतिसे नहीं होता। जन्ममें किसी एक पदार्थकी अवस्थाका स्वरूप नहीं है। आत्माका आहार वर्गणाओं को ग्रहण करना, नवीन भवमें आहार वर्गणाओंका आना, उन्हें अङ्गीकार करना फिर उनकी वृद्धि होना ये सब जन्म और जीवन कहलाते हैं।

विचित्र बन्धन—कितनी विचित्र बन्धनकी बात है जो वैज्ञानिकोंकी भी समझसे परे है। कोई चाहे कि ऐसा जीव बनालूं, शरीर बनालूं शरीरकी बात तो दूर जाने दो, शरीरका जो मल है, खून, मल मूत्र है, पसीना है जो कुछ भी है वही कोई बनाले तो वैज्ञानिकों की बुद्धिसे परे है। ऐसा यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कैसा तो फसा हुआ है और कैसा शरीर वर्गणाओंका प्रसार चलता है, कैसा फैल गया है, कैसा बन्धनमें है इसकी अवस्था बड़ी विचित्र हो रही है, इसमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध न होता तो पदार्थमें ऐसी बात बन कैसे जातीं। किन्तु निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी वस्तुके स्वरूपास्तित्व की दृष्टि न छोडकर देखना चाहिये कि ऐसे अवसर में भी उपादान उस निमित्त की सन्निधि होने पर अपनी परिणति से अपने को विकार रूप बनाता है। निमित्तभूत द्रव्यका गुणपर्याय कुछ भी तत्व उससे हटकर उपादानमें नहीं आय। पर ऐसा विलक्षण सम्बन्ध है कि उसको किन शब्दोंमें प्रकट किया जाय। निमित्तकी सन्निधिबिना विकार होता नही और निमित्तभूत द्रव्यका गुणपर्याय असर कुछ भी कहो, वह कुछ भी निमित्त से निकलकर उपादानमें आता नहीं। इन दोनों बातोंका यथार्थ निर्णय रखना यह प्रमाणभूत ज्ञानी की कला है।

अपनी आयुके उदयके साथ जन्मका अन्वय व्यतिरेक—ऐसा विचित्र बंधन है जीवका, कर्मका व देहका, फिर भी यह सब परिणमन निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध पूर्वक समस्त उपादानोंमें सर्व द्रव्योंमे अपनी-अपनी परिणति से चल रहा है। मैं एकभव छोडकर दूसरे भवमें आया हूँ तो किसी जीवके द्वारा नहीं आया हूँ। किसी जीवके द्वारा मैं जीवितनहीं होता हूँ। यह जीवन तो अपनी आयुके उदयसे होता है। आयुका उदय प्रतिसमय निरन्तर चलता रहता है जब तक निर्वाण नहीं होता तब तक आयु एक क्षणको भी विश्राम नहीं लेती। कोई विशिष्ट आयुका उदय न रहा तो नवीन आयुका उदयहोगा। जैसे कोई देव है वह मरकर मनुष्य बनता है तो ऐसा नहीं है कि देव भव नष्ट हो जाय और उसके एक समय बाद या कुछ समय बाद फिर मनुष्य आयुका उदय हो किन्तु वहां तो यों उदय ही उदय देखो, जो इस क्षण देव आयुका उदय हुआ तो लो अगली क्षण मनुष्य आयुका उदय हो गया। उन

दोनों आयुओंकी संधिके बीचमें कोई समय खाली नहीं रहता कि जिस समय किसी आयुका उदय न हो यह हुई उदयकी दृष्टिसे देखनेकी बात ।

जन्म और मरणका समय एक:—अब मरण और जन्मकी बात देखो कोई देव ८ बजकर बीसमिनटपर देवभव छोडे और ८ बजकर बीसमिन पर पहिले समयमें मनुष्य बने तो यह बतलावो कि जीव मरा कब ? ८ बजकर २० मिनट पर मरा कहलाया या ८ बजकर २० मिनटपर पहिलेसमयमें मरा कहलाया ? जिस क्षणमें सर्वप्रथम मनुष्य आयुका उदय है उस क्षण उस देवआयुका विनाश कहलाया । नवीन आयु मिली और पुरानी आयु न रही, इन दोनोंका समय एक है । जैसे समस्त पदार्थो कीउत्पत्ति और व्ययके सबध में हम यों देखते हैं कि उत्पाद और व्ययका एक समय है ।

उत्पादव्ययकी एकसमयतापर-दृष्टान्तः—अंगुली सीधी है और वह टेढ़ी हुई तो यह बतलावो कि टेढ़ा पन पहिले हुआ या सीधापन पहिले मिटा ? टेढ़ी होने और सीधापन मिटने इन दोनोंका समय एकही है क्योंकि अंगुली के टेढ़ी बननेका ही नाम अंगुलीके सीधेपन का मिटना है और अगुली के सीधेपनके मिटनेका ही नाम अंगुलीका टेढ़ी होना है । हां सीधी पर्यायके अनन्तर ही टेढ़ी पर्याय हुई पर उसके बीच में कोई समय खाली नहीं रहा । इसी प्रकार देव आयुका उदय ८ बजकर २० मिनट तक चला और ८ बजकर २० मिनटके बाद पहिलेही समयमें मनुष्य-आयुका उदय चला, तो ८ बजकर २० मिनटमें उस देवका मरण नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय देव आयुका उदय है । आयुके उदयकालको मरण नहीं कहा जाता, आयुके न होनेका नाम मरण है । सो देव आयुका न होना मनुष्य आयुके प्रथम होनेके समयमें है । यह जीव पूर्व भवको छोड़कर नवीन भवमें आता है इसीका नाम जीवन कहा जाता है ।

दूसरेके द्वारा दूसरेका जीवन किया जाना अशक्य—परमार्थतः जीवका जन्म नहीं है और व्यवहारमें जन्म है सो इस जन्मका भी कारण आयुका उदय है । उसके उस आयुका उदय न हो, क्षयहो रहा हो तो किसी हितूमें क्या यह सामर्थ्य है कि उसे जिन्दा रख सकें, मरनेसे बचा सकें ? किसीमें ऐसी साम र्थ्य नहीं है । बड़े-बड़े महापुरुष हो गये-राम, लक्ष्मण, कौरव, पाडव । कैसी कैसी घटनायें उस समय हुई पर कोई किसीको बचा सका क्या ? श्री कृष्णजी की जब मृत्यु हुई तब बलदेव जी स्वय देख रहे थे, कितना बड़ा प्रताप था श्रीकृष्ण का और बलदेवका पर क्या कोई उन्हें बचा सका ? लक्ष्मणको शक्ति लगी, बेहोशहो गये, मृतक तुल्य हो गये पर राम बिलाप ही तो कर सके कुछ वहाँ हुनरभी चला सके ? कोई मानलो अपना हुनर ही

करले तो भी निमित्त नैमित्तिक भावही तो है, पर किसीको कोई जिलाताहो ऐसी परिणति कोई नहीं कर सकता। जो ऐसा मानते हैं कि मैं दूसरेको जिलाता हूँ, दूसरेको दुखी सुखी करता हूँ, यह उनकी कर्तृत्व बुद्धि है।

आयुके उदय बिना जीवनकी अशक्यता—भैया! दया का परिणाम जुदी बात है। सब जीव सुखी हों, इस दयाके परिणामसे ज्ञान भावका विरोध नहीं है, परमैं इन जीवोंको जिलाता हूँ, पालता हूँ, ऐसे कर्तृत्वका आशय है तो वह जीव अज्ञानी है। जब महापुरुष, महाराजा लोग गुजरते हैं तो कितनातो वैभव, कितना उनका ऐश्वर्य, कितनी उनकी कला, पर सब व्यर्थ जाते हैं। क्या वे यह न चाहते थे कि मैं अभी जीवित रहूँ। सिकन्दरकी बात सुनते हैं कि जब वह गुजरने लगा तो बहुत यत्न किया गया कि यह न गुजरे, वैद्योंका तांता रहा और जिसका बडा प्रताप, बड़ा ऐश्वर्य उसके समयमें, वह कायर बनकर सोचता है कि हाय! अब वश नहीं चलता। तब वह कहता है कि देखो मरना तो पडेगाही, मरही रहे हैं पर अर्थीको ले जानातो अर्थी परसे मेरे दोनों हाथ बाहर निकले हुए ले जाना, जिससे दुनियाँ यह देखे कि आया और चला गया, हाथमें कुछ नहीं लेजा सका, खाली हाथजा रहा है।

आत्म सावधानी बिना दुर्लभ जीवनकी विफलता-भैया! ऐसा होभी सकता है। अगर किसी मुर्दाके हाथ बाहर निकाल कर अर्थीको ले जावे तो लोगोंके चित्तमें यह बात आही जाती है कि रीते हाथजा रहा है, साथ कुछभी नहीं लिए जारहा है। इस जीवके साथ जो कलुषता लगी हुई है उस कलुषतासे यह अपना जीवन खो देता है, पछतावा पीछे आता है। कुछ खो देनेके बाद जीवन व्यर्थ बिता देनेके बाद पछतावा हुआ करता है। ऐसी जगी हुई बुद्धि यदि जीवन कालमे ही हो, जवानीमें हीहो तो यह कितना अपना प्रताप बढ़ा सकता है, पर यही सावधानी न जगपाना तो संसार है और यही कुयोनियों मे भटकने की बात है।

बन्धन विपदामें कैसा अहंकार?-भैया! पुण्यके उदयमें कुछ सद्बुद्धि पायी, धन पाया, ऐश्वर्य पाया, इनमे अहकार करनेसे तो दुर्गतिही होगी। इस जीव के कितने तो बन्धन हैं, कितनी तो कलुषतायें हैं, इतना भी तो यह कर नहीं पाता कि अपने आपमें अन्तरमे विराजमान परमात्मतत्व जो एक भ्रमकी झीनी चादरसे ढका हुआ है, इसको तो निरखले। नहीं निरख सकता और बनारखा है बडा तमाशा। अपने आपको न जाने क्या क्या मान रखा है, इन सब मायावी पुरुषोंमे रहकर, खुद मायावीरहकर, मैं दूसरेका कुछ कर

देता हूँ इस प्रकारका जो आशय किया करता है वह मूढ़ता भरा हुआ आशय है।

वस्तु स्वातन्त्र दृष्टि विना मोहविनाश असंभव–होता तो है पदार्थोंमें विकार, पर निमित्त पाकर होता है। होता है ऐसा जानलो फिरभी प्रत्येक वस्तुका स्वरूप जानलो ऐसा नहीं है कि किसी निमित्तभूत पर द्रव्यमें से कोई गुण, पर्याय, प्रभुता कुछभी आकर उपादानमें आता हो स्वतंत्र, स्वतंत्र पड़े हुए हैं दोनों पदार्थ। विपरीतता तो उपादानकी कलासे हुई है। निमित्त भूत पदार्थ अपने आपमें परिणमती हुई सन्निधिमें उपस्थित है। निमित्तने अपनी परिणतिसे हटकर, उठकर कुछ चीज उपादानमें नहीं रखदी, जब तक वस्तुके परिपूर्ण स्वतंत्र स्वरूपकी दृष्टि नहीं जगती तब तक मोह नहीं मिटता कुछतो करामात है एकमें दूसरेमें कुछ कर देनेकी। ऐसी बुद्धि जगने पर मोहके मिटनेका प्रसंग नहीं आता।

उपादान की कला–होता है विकार निमित्त पाकर, खूबी है उस उपादानमें ऐसी। जिस पुरुषको क्रोध करने का उपादान है, क्रोध करनेकी योग्यता अभी चल रही है तो किसीको भी नौकर रखे, कुछ समय बाद उसे वही क्रोध आने लगता है क्योंकि खुदमें तो क्रोधकी बात बसी हुई हैना, उपादान है सो कोईभी नौकर आये, रहे तो वह उसको निमित्त करके वह क्रोध उबलने लगेगा वहाँ पर क्या नौकरने क्रोध पैदाकर दिया ? नहीं वहतो अपने कषाय और अपने परिणामोंके अनुकूल अपना परिणमन कर रहा है। चूंकि वह क्रोध करनेके उपादान वाला है इसलिए कुछ न कुछ बात सोचकर कुछ अर्थ लगाकर-अपने आपमें अपनेको क्रुद्ध कर लेता है।

निमित्तका उपादानमें प्रवेशका अभाव—जैसे किसी पुरुषने चोरीकी हो और वह १०,५ पुरुषोंके बीच बैठा हो, बहुत पूछाजा रहा है अजी यह चोरी किसनेकी ? कोई नहीं बता रहा है, पर है इनमें से कोई ऐसा वह जान रहा है, तब वह कहता है कि अच्छा मत बतलावो हम अभी ऐसा मंत्र चलायेंगे कि अपने आपही जिसने चोरीकी होगी उसकी चोटी खड़ीहो जायगी वह झूठमूठका मंत्र पढ़ने लगा। सो जो चोर था धीरेसे हाथ उठाकर अपनी चोटी देखनेकी कोशिश करता है। अब बतलावो क्या किया उस झूठमूठका मंत्र पढ़ने वाले ने ! उसकी चोटी नहीं पकड़ी, उसको वश नहीं किया, उसकी तरफ देखताभी न था क्योंकि उसे सन्देहही न था कि उसने चोरीकी होगी। उसेतो पताही नहीं है कि किसने चोरीकी। वहतो जिज्ञासासे अपना परिणमन बना रहा है। पर जिसने चोरीकी,

जिसके उपादानमें शंका बसी हुई है, जिसके उपादानको वह स्वयं जान रहा है वह ऐसी बात सुनकर अपने आपमें अपना अर्थ लगाकर अपनी चेष्टा करता है। यद्यपि उसकी चेष्टा इसके वचनोंका निमित्त पाकर हुई, निमित्तकी सन्निधि बिना नहीं हुई, किन्तु इस निमित्तभूतने उसमें जाकर कुछ किया हो, यह बात नहीं है। उस पुरुषने मंत्र वालेकी बात सुनकर अपने में परिणमन बनाकर अपनी चोटी को पकड़ लिया।

कर्तव्य स्वदृष्टि—सोभैया! निमित्ततो परवस्तु है पर विकार रूप परिणम जाता है यह परिणमने वालेकी परिणति की कला है। निमित्तभूत पदार्थ अपने क्षेत्र से चलकर उपादानमें कुछ डालता हो ऐसा नहीं है। ऐसी स्वरूप की स्वतन्त्रताकी सावधानी न दृष्टिमें रहे तो मोह नहीं छूटता। ऐसी सावधानी बनाना अत्यन्त आवश्यक है। विकारोंमें पर पदार्थ निमित्त होते हैं, उसका सान्निध्य पाकर यह उपादान विकार करता है। इतने परभी दोनोंका चतुष्टय न्यारा-न्यारा है। दोनों अपने-अपने चतुष्टयमें रहते हैं। किसीका चतुष्टय या कुछ अश किसीदूसरेमें प्रवेश नहीं करता, ऐसे भेद स्वरूप सीमाकी रुचि करना यह तो कल्याण का उपाय है।

वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टि नया मोड़—किन्तु परकी चर्चा ही बनाये रहनेसे भला नहीं है। जब से होस सम्हाला है, जबसे जानकारी बनायी है तबसे यह समझ रहेहैं कि जितनेभी विकार परिणमन होते हैं,वे पर निमित्तपाकर होते हैं पर क्या हमारा कर्तव्य यही है कि इतनीसी बातमें ही उपयोग रखे रहें और वस्तुका जो स्वतन्त्र स्वरूप है, स्वरूप चतुष्टय है उसके स्वतन्त्रय को देखनेका जी न करें, रुचि न करें। यह तो कल्याण का मार्ग नहीं है। मानलो एक घटा तक निमित्त ही निमित्तकी खूब चर्चा कर लिया, समर्थन कर लिया, पर करने योग्य दृष्टि क्या है और किस दृष्टिसे हमें शान्ति मिल सकती है, हम निराकुल किस दृष्टिसे रह सकते हैं, ऐसी दृष्टि तो यही वस्तुस्वातत्रयकी दृष्टि है।

ज्ञातव्य और कर्तव्यः—कुछ आजका वातावरण ऐसा हो गया है कि वस्तुस्वातंत्र्यको वस्तुस्वातत्रयकी एक शुद्ध सीमाका उल्लघंन करके मानलो विकारको स्वभावोद्भव बोलने लगे हैं तो उसके एवजमें दूसरोंको यह तो नहींकरना चाहिये कि वस्तु स्वातंत्र्यको भूलकर केवल निमित्तका ही प्रतिपादन करनेमें लग जायें। क्या कल्याण पालिया? किसे बताना है, किसे सुनाना है। हो गई चर्चा, कह दिया कुछ, इससे ही तो संसार नहीं मिट गया। ऐसा अंधकार तो नहीं है कि वस्तुके स्वभावसे स्वरसत. विकार भाव होते रहते

हैं। ऐसा अज्ञान तो नहीं है ना, निर्णय तो हो गया ना कि विकार परिणमन जो होते हैं वे पर निमित्तको पाकर होते हैं। अब एक बार निर्णय होने के बाद उसकी ही चर्चा रखना श्रेयस्कर नहीं है। ज्ञान हो गया। अब करनेका काम तो आत्मस्वभावका आश्रय है।

आत्मज्ञानका उपदेशः—आचार्योंने इस बात पर जोर दिया है कि तुम आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनावो यह जोर नहीं दिया है कि विकार परउपाधि का निमित्त पाकर होते हैं, सो उन निमित्तोंकी दृष्टि ही बनाए रहो। यहजोर कोई भी ऋषि नहीं देते हैं। होगया ज्ञान एकबार। चित्त अपना कल्याण के लिये बनाना चाहिये। एक बार जिसको ऐसा निर्णय है, होगया, अब बारबार उसको कहना, सुनना, चर्चामें लगना ये कोशिस बुद्धिको यत्रतत्र भ्रमण ही करायेंगी, पर शांति और निराकुलताके पदको न पहुंचायेंगीं। इसलिये कर्तव्य यह है कि ज्ञान तो ले पर दृष्टि स्वकी रखें। अपनाजोसहज स्वरूपहै उसका ज्ञान हो तो वह ज्ञान अधिक देर तक टिका रहे, बना रहे ऐसा यत्न करो। यह है अपने कल्याणका उपाय।

स्वरूपदर्शनका लक्ष्यः—ये जितने भी जन्म जीवोंके हो रहे हैं ये उनके बंधे हुये कर्मोंके उदयसे हो रहे हैं। यद्यपि उस जीवनका निमित्त है आयुका उदय और आयु का उदय चलते रहनेका जो कर्म हैं, शरीरके मर्मस्थान आदिक यथावस्थित बने रहना और शरीरके द्रव्यप्राण यथावस्थित बनसके, इसके सम्भावित निमित्त हैं खाना पीना, सेवा टहल इत्यादि। इतने पर भी सेवा टहल करने वाले पुरुष दूसरे आत्मा को जिलाते रहते हैं ऐसा सोचना अज्ञान है। होता रहता है, निमित्त इसका यह है, इसका यह है, ऐसा समझ लो। पर वस्तु स्वातन्त्र्यभी तो कुछ चीज है। स्वरूप चतुष्टयभी तो कुछ तत्व है, या कुछ है नहीं ? है, तो उस स्वरूपकी दृष्टिकी प्रधानता रखो। काम उससे ही बनता है। उसे तो केवल जानलो।

निमित्त वर्णनका प्रयोजन स्वभावरक्षाः—कहीं यह भ्रम न हो जाय कि जीव को जब राग करना होता है तो राग करता है, द्वेष करना होता है तो द्वेष करता है। उसका ऐसा स्वभाव नहीं है इस ज्ञानको करानेके लिये निमित्तके ज्ञानकी आवश्यकता है फिर जब मोक्षमार्गमें अपने कदम परमार्थढंगसे बढ़ाते हैं तो कर्तव्य होता है कि वह अपने आपको जैसा सहज स्वरूप रूप है उस रूपमें निरखनेका यत्न करें। ऐसा यत्न करनेसे यह आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिरता पानेका अभ्यास पाता है।

कर्तृत्वके आशयमें अहंकार व कायरता:- मैं दूसरे को जिलाता हूँ या दूसरे के द्वारा जिलाया जाता हूँ ये दोनों परिणाम अज्ञानरूप है। उसमे एक मे तो अहंकार बसा है, और एक मे कायरता बसी है। मुझे दूसरे लोग जिलाते हैं, मैं दूसरोंकेद्वारा जिन्दा रहता हूँ, ऐसा सोचनेमे कायरता आती है और मैं दूसरोंको जिलाता हूँ ऐसा सोचनेमे अहंकार आता है। तो अहंकार और कायरता ये दोनों ही परिणाम क्षोभ को उत्पन्न कराने वाले हैं, क्लेश उत्पन्न कराते हैं। सारभूत बात तो यह है कि यह मैं आत्मा अपने आपके सहज स्वरूपको निरखूं कि मैं ज्ञान प्रकाशमात्र हूँ। यह बात ज्ञान और चारित्र द्वारा साध्य है, या सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र द्वारा साध्य है ? चीज जानलो। उस जाने हुए को किस तरह से जानने रूप बनाए रहना इसमें आचरण और चारित्रकी आवश्यकता है।

अन्तरङ्ग आचरण ज्ञातृत्व की स्थिरता—अंतरग आचरणके बिना योंही मनको स्वच्छन्द बनानेमें, विकल्पोंमें यत्र तत्र दौड़नेमें चाहें कि ऐसे स्वरूप ज्ञानकी स्थिरता रख सकें, सो यह किया जाना बड़ा कठिन है। विकल्प छोड़ना होगा एकतान होकर एकाग्रदृष्टिसे, एकही सहज ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि रखनेका यत्न करना होगा। होगा कोई ऐसा समय जिस समयमे किसीभी परका ध्यान न रहे और यह ज्ञान ज्योति ज्ञानानन्दमय ज्ञानप्रकाश केवल साधारण रूप, सामान्य रूप यह ज्ञान प्रकाशही इसके ज्ञानमे आये, अनुभव में आए ऐसा समय प्राप्तहो सकता है। और जिन आत्माओंको ऐसे क्षण प्राप्त हुए, जिन्होंने अपने आपको इस रूपसे अनुभूत किया उन पुरुषोंको धन्य है। वे मोक्षमार्गी हैं।

सहज स्वरूप दर्शनकी पावनता – घरमे रहते हुएभी ऐसे ज्ञान वाले पुरुष जो अपने अन्तरमें उन्मुख होकर सामान्य ज्ञान प्रकाश मात्र अपने आपकी प्रतीति बना सकें, सबसे विविक्त न्यारा केवल सहज स्वरूप मात्र अपने आपको जानसकें और ऐसे उन्मुख होसके वे पुरुष भावी कालमें कर्मोंका क्षय करके अपने स्वाधीन शाश्वत आनन्दको प्राप्त करते हैं। जोइस विविक्तताकी मूर्तिहैं वे साधुतो परमेष्ठी हैं ही। तोइस बधाधिकारमें उन्हीं अध्यवसायोंका वर्णन चल रहा है जिन्हें इन जीवोंको न करना चाहिए और जिन अध्यवसायोंकी कलुषतासे मुक्त होकर अपने सहज स्वरूपका दर्शन करना चाहिए।

मैं दूसरोंको जिलाता हूँ या मुझे दूसरे लोग जिलाते हैं ऐसा मानना अज्ञान है, ऐसा सुनकर जिज्ञासु पूछता है कि ऐसा अध्यवसाय करना अज्ञान क्या है ? उसके उत्तरमें श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि :—

आऊ दयेण जीवदि जोवो एवं भणंति सव्वराहू ।
आउंच ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥ २५१ ॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वराहू ।
आउचण दिंति तुह कह णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥ २५२ ॥

जीव आयुके उदयसे जन्म लेता है। अपनी अपनी आयु कर्मका उदय जन्मका और जीवनेका कारण है क्योंकि यदि आयुका उदय न हो तो जीवन कराया नहीं जा सकता, ऐसा सर्वज्ञ देव बतलाते हैं, और आयुको तुम दे सकते नहीं हो फिर तुमने दूसरे प्राणीका जीवन कैसे बनाया, अर्थात् नहीं बनाया।

जीवनके अन्तरङ्ग वहिरङ्ग कारण—जीवन आयुके उदयके निमित्तसे होता है और बाह्यमें अन्य द्रव्य प्राणोंके होनेसे होता है। उन द्रव्य प्राणोंमें सबसे प्रधान आयुको बताया है। चौदहवें गुणस्थानमें जहाकि अन्तर्मुहूर्तका जीवन है वहा केवल आयुप्राण रहता है और दूसरा कोई प्राण नहीं रहता है आयुके उदयके बिना जीवन होता ही नहीं हैं भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न २ जीवोंके विभिन्न रूपसे प्राण होते हैं।

एकेन्द्रिय जीवके प्राण—जो एक इन्द्रिय जीव हैं, जो अपर्याप्त अवस्थामें है, विग्रहगतिमें हैं ऐसे जीवोंके तीन प्राण होते हैं आयुप्राण, स्पर्शन इन्द्रिय प्राण और कायबल, वह एकेन्द्रिय जीव जब अपर्याप्त अवस्थामें आता है तो उसके चार प्राण होते हैं स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, कायबल, आयु और स्वासो छ्वास। पृथ्वी, जल अग्नि आदि के भी स्वासोछ्वास होता है। इनमेंसे अपने अपने योग्य हवाका निकलना, हवाका जाना ये सब रहते हैं।

दोइन्द्रिय जीवके प्राण—दो इन्द्रिय जीव जो विग्रह गतिमे है व अपर्याप्त अवस्थामें है उसके चार प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय प्राण स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, आयु और कायबल। ये चार प्राण होते हैं जब वह अपर्याप्त अवस्थामें है। जब वह पर्याप्त अवस्थामे आता तो ६ प्राण हो जाते हैं, एक बचन बल, एक स्वासोछ्वास दो चीजें औरहो जाती हैं। उदय देखो जीवका कैसा विचित्र है कि किसी पदमे, किसी अवस्थामें, कैसी रचनायें होती रहती हैं।

तीन इन्द्रिय जीवके प्राण—तीन इन्द्रिय जीव जब विग्रह गतिमे और अपर्याप्त अवस्थामें है तब उसके तीनतो इन्द्रिय प्राण, एक कायबल और एक आयु ये ५ प्राण होते हैं, जब वह पर्याप्त अवस्थामें पहुचता है तो दो

प्राण और बढ़ जाते हैं-वचन बल और श्वासोच्छ्वास। इस तरह ७ प्राण हो जाते हैं।

चार इन्द्रिय जीवके प्राण—चार इन्द्रिय जीव-उसकी अपर्याप्त अवस्थामें चार तो इन्द्रिय प्राण एक काय बल और एक आयु इस तरह ६ प्राण होते हैं। और उस जीवकी जब पर्याप्त अवस्था हो जाय तो उसमें दो प्राण और बढ़ जाते हैं वचन बल और श्वासोच्छ्वास इस तरह ८ प्राण हो जाते हैं।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके प्राण:—असज्ञी पचेन्द्रिय जीव जिसके मन तो नहीं हैं किन्तु इन्द्रिय पांचों हैं। उसकी विग्रह गतिमे अपर्याप्त अवस्थामे ५ तो इन्द्रिय, एक कायबल और आयु ऐसे ७ प्राण होते हैं। जब यह पर्याप्त अवस्थामे हो जाता तो वे ही दो प्राण और बढ़ जाते हैं-वचनबल और श्वासोच्छ्वास। तब ९ प्राण हो जाते हैं।

सज्ञी पञ्चेन्द्रियके प्राण—सज्ञी जीवके अपर्याप्त अवस्थामे तो ७ प्राण होते हैं, ५ इन्द्रिय, एक कायबल और एक आयु, किन्तु पर्याप्त हो जाने पर उसमें १० प्राण हो जाते हैं-मनोबल वचनबल और श्वासोच्छ्वास ये तीन और बढ़ जाते हैं।

जीवनाध्यवसायके अज्ञानरूपताका कारण:—इस तरह ये जीव द्रव्यप्राणों से जी रहे हैं। उनप्राणोंमें देखो सबके साथ आयुप्राण बराबर लगा है। आयुप्राणके बिना यह जीव ससार अवस्थामे कभी नहीं रहता। जहाँ केवल ज्ञान हो जाता है और योगभी नष्ट हो जाता है किन्तु निर्वाण नहीं होता ऐसे चौदहवें गुण-स्थानमे आयुप्राण रहता है। आयुके उदय बिना किसीका जीवन देखा है? तो जब आयु उदयके बिना हम किसीको जीवित नहींकर सकते तो मैंने अमुकको जिलाया इस प्रकारका अध्यवसाय क्यों करते हो। वह अध्यवसाय तो नियमसे अज्ञानरूप है।

आयुके उदयबिना जीवनकी अशक्यता:—कोई कितना ही भाव करे कि यह जिन्दा रहे, कितनी ही प्रीति हो, पर कोई किसीको जिला नहीं सकता दूसरे को जिलानेकी बात तो दूर रही खुदभी कौन मरना चाहता है। जब व्याधि उपाधि कठिन हो जाती है तो खुदको भी हम जिन्दा नहीं रख सकते तो यह जो जीवन है वह आयुके उदयसे होता है। हम दूसरे जीवोंको आयु दे नही सकते। इस कारण यह अध्यवसाय मिथ्या है जो यह भाव भरे हैं कि मैं दूसरे जीवोंको जिलाता हूँ। कोई किसीको न जिलाता है न कुछ देता है न सुखी करता है। सबके अपने अपने उदय हैं। उन उदयोंके अनुसार उनको अपने आप परिस्थिति प्राप्त होती है।

ज्ञानीका मूल प्रयोजनः—भैया ! ज्ञानी जीवका समस्त उपदेशोंके ग्रहण करने में यह तात्पर्य रहता है कि मैं सर्व विकल्पों से छूटकर आत्माके सहज-स्वरूप चित्प्रकाशमात्र आत्मतत्त्वको ही लखू। ज्ञानी जीव इस प्रयोजनको लखकर समस्त उपदेशोंको ग्रहण करते हैं। जिसको जिस चीजकी लगन होती है वह समस्त प्रसंगोंमें से अपनी लगनके लायक ही बातको देखता है। केवल एक ही उद्देश्य है अपने अविकार स्वभावकी दृष्टि होना और ऐसी दृष्टिकी स्थिरता बनी रहना, ज्ञानीके समस्त कार्य समस्त वर्णन उपदेश इस प्रयोजनको लिये हुए होते हैं।

संयमाचरणमें ज्ञानीका प्रयोजनः—अब समस्त वर्णनों का व आचरणोंका प्रयोजन लीजिये। यह जीव संयमरूप आचरण करता है तो किसलिये कि चूंकि विश्वके समस्त पदार्थोंके संचयमें और उनके भोगनेमें विकल्प बढ़ता है, मूर्छा चलती है। वहां यह अपने स्वभाव में स्थित होनेका पात्र नहीं हो पाता है। इसलिये स्वभाव दर्शनके बाधक जो विकल्प हैं उन विकल्पोंके जो आश्रयभूत हैं, नोकर्म हैं उनका त्याग किया जाता है।

कार्यमें उद्देश्यकी साधकतमताः—यदि उद्देश्यका पता न हो तो बाह्य पदार्थोंका त्याग करके भी इस आत्माको मोक्ष मार्ग नहीं मिल पाता बाह्य चीजों पर ही दृष्टि है। यह है, इसको त्यागते हैं, इसके त्यागनेसे सुख मिलेगा, मोक्ष मिलेगा। मोक्ष भी क्या चीज है ? और मैं भी क्या चीज हूँ इसका निर्णय किए बिना जो कुछ भी कल्पनामें आया हो। क्या कल्पनामें आयगा कि जैसे यहांके संसारके सुख हैं इससे कई गुणा होकर सुख मिलता है ? इस संसारके सुखको छोड़कर सुख की बहुलतारूप क्रियात्मक जानता है। उससे शान्ति नहीं मिलती। यदि कैवल्यपर ज्ञानानन्दके पूर्ण विकासरूप मोक्षपर दृष्टि हो तो परम विश्राम मिल पाता है, आनन्द मिल पाता है। अन्यथा अपना परमार्थ स्वरूप विदित नहीं होता। जिस किसीभी सुखका अज्ञानी ने श्रद्धान माना उसको ही यह दृष्टिमें रखता है।

ज्ञानीके प्रयोजनकी पदानुरूप सिद्धि—इस ज्ञानीको जितना भी करनेका सुननेका, प्रतिपादन करनेका, उपदेश ग्रहण करनेका प्रयोजन है। वह इतना ही है कि विकल्पोंसे छूटकर मैं इस निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप अनुभवमें रहाकरूं। यह बात होतीभी अन्तमें है, जबमुक्तिप्राप्त होती है वहाँ बहुत रूपमें यह बात नहीं चलती, जितने रूपमें वह मेल मिले उतने रूप हम इस आत्माके अनुभव में लगते हैं।

परमशुद्धनिश्चयके प्रयोगमें ज्ञानीके प्रयोजनकी सिद्धि:—भैया ! कोई वर्णन सुनो उस वर्णनमें चार नय मिलेंगे परमशुद्ध निश्चय नय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। इन चारोंनयोंका जो विषय है वर्णन है उन वर्णनोंमें यह ज्ञानी जीव अपने अखण्ड सहज स्वभावकी दृष्टिका प्रयोजन लेता है। परम शुद्ध निश्चयनय तो इस अखण्ड सहज स्वभावका सीधाही दर्शन करानेका प्रयत्नकरता है। इसका विषयही अखण्ड निर्विकल्प स्वभाव है। इसमें तो प्रयोजन साक्षात् ही स्पष्ट है।

शुद्ध निश्चयनयके प्रयोगमें ज्ञानीके प्रयोजनकी सिद्धि—जब शुद्ध निश्चयनय से जानते हैं तो शुद्ध निश्चयनयसे ऐसा जाना जाता है कि यह प्रभु अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख से सम्पन्न है। इसका केवलज्ञान, जैसा ज्ञान स्वभाव है वैसा ही प्रकट हुआ। इसके प्रयोगमें वह अपने प्रयोजनकी सिद्धिकी शैली अपनाता है। भगवानके यह अनन्त चतुष्टय स्वभावसे विकसित होता है। यह अनन्त ज्ञान क्या है? जो ज्ञान गुण है ना, उसका शुद्ध परिणमन है। यह ज्ञान गुणकी वृत्ति जगी रहती है। केवल दर्शन–यह दर्शन गुणकी वृत्ति है। इसका उद्भव दर्शन गुणसे है, शात है, निराकुल है प्रभु, अनन्तसुख सम्पन्न है, निष्कषाय है, निर्मल है, ऐसा जो उनका परिणमन है यह चारित्र गुणसे उद्भूत है। इस तरह शुद्ध निश्चयनयसे जितने भी शुद्ध परिणमन सिद्धमें हुये हैं उन शुद्ध परिणमनोंमें प्रयोजनकी शैली ज्ञानी अपना रहा है। यह परिणमन इन गुणोंसे प्रकट होता है और ये गुण इस आत्मा के सहज गुण हैं, अथवा यह आत्मस्वरूप जो एक अखण्ड है वह इन गुणोंरूपसे इन विशेषताओंके रूपसे जाना जारहा है। परमार्थसे इन समस्त गुणोंका अभेदरूप यह आत्मतत्त्व है, यहासे प्रकट होता है कि ज्ञानी ने इसके प्रयोजनकी शैली अपनायी है और उन शुद्ध परिणमनोंको निरखकर यह अपने स्वभावकी ओर आया है। देखो शुद्ध निश्चयनयके प्रयोगसे भी इस ज्ञानी पुरुषने आत्मदर्शनरूप प्रयोजनको सिद्ध किया है।

अशुद्धनिश्चयनय के प्रयोगमें ज्ञानीके प्रयोजनकी सिद्धिकी पद्धति—यह ज्ञानी जब अशुद्ध निश्चयनयका प्रयोग करता है अब तबकी प्रयोजनपद्धति देखिये। अशुद्ध निश्चयका प्रयोग इस प्रकार होता है। यह जीव रागी है। जो अशुद्ध परिणमन है इस परिणमन से परिणमते हुए उस एक पदार्थको निरखना यह अशुद्ध निश्चयनयका विषय है, क्योंकि निश्चय कहते हैं एकको देखनेको, किसी भी निश्चयनयमे दो पदार्थोंकी दृष्टि नही होती। एकको निरखना यही निश्चयनयका असाधारण अनिवार्य लक्षण है। इसमें दो राग

नहीं है। एकको ही देखें, किन्तु उस एकको अशुद्ध परिणतिसे परिणमता हुआ निरखें तो वह अशुद्ध निश्चयनय कहलाता है। ज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चयनय के प्रयोग में भी सहज स्वभायके स्पर्शरूप प्रयोजनको सिद्ध करता है। वह कैसे ? इस नयका जब विस्तार बनायें तो इस बातको न भूलें कि एकको ही निरखना है। जब एकको ही निरखें तो निश्चयनय बनता है। दो निरखनेमें व्यवहारनय आता है। जिसका वर्णन अब इसके बाद किया जायगा।

प्रयोजक शैली – अभी यहाँ यह देखिये कि ज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चयनय के प्रयोगमें कैसी शैली अपनाता है कि जिसके प्रतापसे यह विकल्प द्वैतों से छूटकर अद्वैत सहजस्वभावमें प्रवेश कर चलता है। इस नयके मतमें जीव रागी है, क्रोधी, मानी, मायावी हो रहा है। देखो यहां निमित्तभूत पदार्थकी दृष्टि छोडकर एक वर्तमानपर्यायपरिणत आत्माको निरखा जा रहा है इस अशुद्ध निश्चयनयमे क्रोध हुआ है, क्रोध आत्माके चरित्र गुणका विकार है। यह चरित्र गुणकी परिणतिसे परिणमता हुआ जो कुछ भी ज्ञान है, यह ज्ञान आत्माके अज्ञान गुणका परिणमन है, अल्प हुआ है, यह इसके अपूर्ण अवस्थाकी बात है, कषाय कुछ भी हुई, वह चारित्रगुणका परिणमन है, श्रद्धा कुछ हो, मिथ्यात्वरूपही सही-वह श्रद्धा गुण का परिणमन है। इस तरह अशुद्ध परिणमनोंमें यह निर्णय ज्ञानी रख रहा है कि ये समस्त परिणमन उन गुणोंकी वृत्ति है। इस अशुद्ध निश्चयनयके विषयको सुनते समयमें यह जाननेकी भी इच्छा न करना कि यह हो क्यों गया ? यह व्यवहारनयमें बताया जायगा। जिसआँख से निरख रहे हैं उस आँखसे दिखता क्या है। इस शैलीसे इसको अभी देखना है। जब तक इसको अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देख रहे हैं तब तक तो तुम अशुद्ध परिणमनोंको उनके आधारमें देखो कि सब परिणमन इन गुणोंके परिणमनेसे हो रहा है।

प्रयोजकपद्धतिमें प्रयोजनकी सिद्धि—तो ऐसी शैलीसे निरखने पर उपादान मुख्य हो जाता है और परिणमन गौण होने लगता है—ऐसी स्थिति आने पर अन्तःप्रलीन पर्याय की दशा होती है अर्थात् पर्याय द्रव्यके अन्तरमें प्रलीन हो गई, अर्थात् इस ज्ञानी पुरुष ने अपने उपयोग से पदार्थोंको यों निरखते-निरखते ऐसा उपयोग बनाया है कि अब पर्याय दिखनेकी जगह ध्रुवगुण दिखता है और फिर इस स्थितिसे और अन्तरमें पहुचने पर अशुद्ध निश्चयनयका उपयोग छूट जाता है और परमशुद्ध निश्चयनय के उपयोगमें आता है, तब साक्षात् अखण्ड निर्विकल्प स्वभावका परिचय कर लेता है। यह प्रकरण यों

बताया जा रहा है कि ज्ञानी जीवको समस्त उपदेश ग्रहण, समस्त प्रतिपादन, समस्त श्रवण, आचरण, व्यवहार चारित्र सभी बातें एक प्रयोजनको लिये हुये होती हैं, जिसे कहते हैं ज्ञानी का मुख्य प्रयोजन।

सभीके प्रयोजनका भाव.—भैया! मुख्य प्रयोजन बिना कोई पुरुष नहीं रह रहा है। कोई गृहस्थ धर्मात्मा है तो उसका मुख्य प्रयोजन है धर्म साधना धनसंचय उसका प्रयोजन नहीं है किसी पुरुषको धर्म में रुचि नहीं है और लौकिक ठाठबाटोंको देखकर बड़प्पन महसूस करता है। उसका प्रयोजन है धन संचय करना। कोई न कोई प्रयोजन प्रत्येक पुरुष रखता है। इस ज्ञानीका प्रयोजन क्या है कि विकल्पोंसे छूटकर अखण्ड निर्विकल्प निज स्वभावमें स्थिर रहूँ, तृप्त रहूँ, लीन रहूँ, यह प्रयोजन रहता है। चाहे उसे इस प्रयोजनमें सफलता न मिली हो फिर भी उसका ही यत्न वह करता है। तो इस परमशुद्ध निश्चयनयके वर्णनसे भी यही प्रयोजन साधा और शुद्ध निश्चयनयके वर्णनसे भी यही प्रयोजन साधा और अशुद्ध निश्चयनयके वर्णनसे भी यही प्रयोजन साधा।

व्यवहारनयके प्रयोगसे प्रयोजन पर पहुँचनेकी पद्धति.—अब व्यवहारनयका प्रयोग देखो। व्यवहारनयके प्रयोगमें यह देखा जाता है कि जीवमें ये रागादिक विकार कर्मोंके उदयके निमित्तसे होते हैं। कर्मोंके उदयके निमित्त बिना विकार नहीं होते हैं, यह बात सत्य है। तब उसका प्रयोग किसके लिये करना है उसका प्रयोजन यह है कि चूंकि यह विभाव मेरे स्वभावसे प्रकट नहीं हुआ, मेरे सहज सत्वके कारण यह विभाव नहीं बना है, परिणमन नहीं बना है। औपाधिक कर्म विपाकके निमित्तसे आत्मभूमिमें ऐसी झलक हुई, इसप्रकार गुणोंका विकृत परिणमन हुआ है। वह मेरी चीज नहीं है। मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो यह अखण्ड चैतन्य स्वभाव है। व्यवहार प्रयोगका प्रयोजन, परवस्तुओंका निमित्त जाननेका प्रयोजन, निमित्त और नैमित्तिक दोनों से रुचि हटाकर अनादि अनन्त शुद्ध सुरक्षित निज स्वभावमें दृष्टिको पहुँचाना है। पूर्व नयोंकी भांति इस व्यवहारनयको परिज्ञानका प्रयोजन यही आत्मदर्शनरूप सिद्धि करना है।

समस्त वर्णनोंमें और आचरणोंमें मूल प्रयोजन. यों ज्ञानीजीवका प्रयोजन सब वर्णनोंमें यह ही है कि मैं अपने निर्विकल्प शुद्ध सहजस्वभाव जो कि आनन्दस्वरूप है उसमें मग्न होऊं। यह ज्ञानी जैसे इस वर्णनके प्रयोजन से अपनी समृद्धिकी सिद्धि करता है इसीप्रकार व्रत, संयम, चारित्र, आचरण

सत्संग, स्वाध्याय आदि जो जो भी यह व्यवहारधर्म करता है, शुभ क्रियाएं करता है, शुभोपयोग बनाता है उन सबका भी प्रयोजन विकल्प भावसे हटकर निर्विकल्प स्वरूप में पहुंचनेका है।

बाह्य संयमका व त्यागका प्रयोजनः—विश्वके समस्त पदार्थोंका सम्बन्ध इस आत्माके अध्यवसाय और विकल्पोंकी उत्पत्ति करनेका आश्रय है, इन्हें छोड़ दें तो विकल्पोंके उदय होनेका अवसर न रहेगा। ऐसे अवसरमें विकल्प भावोंसे छूटकर अखण्ड ज्ञानानन्दमय इस स्वभावके दर्शनमें लगूंगा। इस प्रयोजनके लिये ही उसने बाह्य परिग्रहोंका प्रमाण किया, त्याग किया। जो कुछ यह व्रत संयम करता है वह सब ऐसी स्थिति बनाए रहनेके प्रयोजनसे करता है जिस स्थिति में उस आत्मस्वभावसे विरुद्ध और विमुख न हो जाऊं, इसके दर्शनकी मेरेमें पात्रता बनी रहे। इसके लिये ये समस्त आचरण करता है। सत्संगमें बैठता है, जाता है, वहां भी उसका प्रयोजन अपने इस ही स्वभावके अनुभवका बना रहता है। सुनूं ऐसी बात जो आत्माके इस निर्विकल्प स्वभावको प्रसिद्धि करे। करूं ऐसा आचरण, यत्न, ध्यान जिससे मैं अपने इस सहज स्वभावमें प्रवेश कर सकूं। ज्ञानीके समस्त व्रत नियम, क्रियायें सबका प्रयोजन एक निज स्वभाव का दर्शन और इसका उपयोगी बना रहना है।

जीवनाध्यवसायकी अज्ञानमयताः—तो इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि तू इन विकल्पोंको छोड़, इस आशयको दूर कर कि मैं दूसरे जीवोंको जिलाता हूँ उसका यथार्थस्वरूप बताया है कि क्यों यह अध्यवसाय अज्ञान है। इन विकल्पोंसे हटकर तू अपने शुद्धस्वरूपमें आ, इसके लिए इस बंधाधिकारमें उन सब भावोंको, अध्यवसायोंको जैसा कि वह अज्ञान स्वरूप है दिखाया गया है।

अज्ञानीको परमार्थसत्य . दर्शनका अभाव—जिसको वस्तुके चतुष्टयका परिज्ञान नहीं है वह पुरुष वस्तुके बाह्य परिकरको देखकर इसप्रकारकी बुद्धि बनाता है कि मैं अमुक-अमुकको करता हूँ। पर ज्ञानी जीव विकृत परिणमन में निमित्तनैमित्तिक भाव होता हुआ भी अपने-अपने स्वरूप चतुष्टयकी स्वतन्त्रताको निरखता है। अज्ञानताकी दृष्टिमें पड़ा हुआ अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैंने दूसरेको जिलाया है। अपने आपके स्वरूपास्तित्वको तो वह अज्ञानी भूलगया और यह मान्यता आगयी कि मैं दूसरेको पालता हूँ, जिलाता हूँ। ऐसे ही वह व्यवहार में मानता भी है, दूसरोंके गुण गाता भी है; पर वह परमार्थ सत्यको नहीं निरख सकता।

परके द्वारा अन्यमें परिणमनका अभाव—प्रथमतो यह बात है कि प्रत्येक पदार्थ अपने परमात्मस्वरूपमे अविचल सुरक्षित बने हुये हैं, और उनमें द्रव्यत्व गुण होनेके कारण परिणमन भी होता है। तो उनका अपने आपके ही गुणों में परिणमन होता है। कोई दूसरा पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्यायको दूसरेमें रख देता हो ऐसी बात नहीं है। मैं दूसरोंके द्वारा जिलाया नहीं जाता हूँ, किन्तु आयुका उदय चल रहा है और उस आयु के उदयके नोकम हैं, साधन हैं, वे मिले हुये हैं तो यह जीवन चल रहा है। यहा कोई दूसरा मेरेमें कुछ परिणमन नहीं करता।

कायरताका अध्यवसाय—जो अपनेको दूसरेके द्वारा जीवित हूँ, पालित हूँ, ऐसा समझता है वह कायरताका भाव लिये हुये है। अमुक प्रसन्न रहेगा तो मेरी सत्ता रहेगी अन्यथा न रहेगी। नाना कल्पनाएं बनाता है, और ऐसी विपरीत कल्पनाओंमें कल्पनाएं बढ़ा-बढ़ाकर ऐसा कुछ रूप रख लेता है कि अपने ही अस्तित्वकी वह खबर नहीं रख पाता। तो मैं दूसरोंके द्वारा जिलाया जाता हूँ, ऐसा सोचना, यह अध्यवसाय भी निश्चयसे अज्ञान है। आयुका क्षय हो रहा हो और कोई हितू मुझे बचाले ऐसा नहीं हो सकता है।

पुराण पुरुषों द्वारा ज्ञानकी शरण—बडे-बड़े पुरुषों, ऊचे पुण्यशाली, चक्री नारायण प्रतिनारायण बलभद्र जैसे ऊंचे पुरुषभी अपने कुटुम्बीजनोको मरते देखकर कुछ अपनी कला नहीं खेल सके। अन्तमे उन्हें भी ज्ञानकी ही शरण लेनी पड़ी। ज्ञानकी शरण लेनेसे ही निर्भयता आयी। जो ज्ञानकी शरण नहीं लेता और देहके वियोगको ही अपना नाश समझता है उसे भय, शल्य, चिंता आदि सभी आपत्तियां सताती हैं। मैं दूसरोंके द्वारा जीवित नहीं होता। यदि मैं जिन्दा करता हूँ दूसरेको, ऐसा मानें तो अज्ञान है। मुझे दूसरे लोग जीवित बनाए रहते हैं ऐसा मानें तो अज्ञान है क्योंकि जीवन होता है आयुके उदयसे, और आयुके उदयको, किसीके उदयको कोई दूसरा दे नहीं सकता।

दु.ख सुख देनेके अध्यवसायकी अज्ञानरूपता:—अब जिज्ञासु प्रश्न करता है कि खैर यह तो बहुत बड़ी बात है जिन्दा कर देनेकी। कोई किसीको जिन्दा नहीं करता, पर यह तो देखा जाता है कि एक दूसरेको दु:खी सुखीतो कर देते हैं। कोई किसीके ऊपर आपत्ति डालदे तो वह तो दु खी होता रहता है ऐसा देखा जाता है। सो कोई किसीको दु:खी तो किया करता है, और सुखीभी कोई किसीको कर देता है यह भी देखा जाता है। कोई भूखा बैठा है भोजन करादिया अथवा प्रेमकी दो बातें करदो। तो एक दूसरेको दु:खी,

सुखी करता है कि नहीं ? उसके उत्तरमें कुन्द-कुन्दाचार्यदेव यह बतलाते हैं कि दुःखी और सुखी करनेका जो अध्यवसाय बनाता है उसकी भी ऐसी ही गति है अर्थात् वह भी अज्ञानी है।

जो अप्पणा दुमरणदि दु'क्खिदसुहिदे करेमि सत्ते ति।

सो मूढो अरणाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२५३।।

जो जीव ऐसा मानते हैं कि मैं अपने आप दूसरोंको दुःखी सुखी किया करता हूँ वे जीव मोही हैं, अज्ञानी हैं। ज्ञानी जीवोंकी तो यह धारणा है कि प्रत्येक जीव अपने परिणामोंसे सुखी और दुःखी होता है।

वस्तुगत स्वरूपः—भैया ! वास्तविक स्वरूप जाननेके लिए अर्थात् वस्तुगत तत्त्व जाननेके लिये संयोगदृष्टि या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धी दृष्टि दृढ़ नहीं की जाती है। यद्यपि कोई भी विकार किसी परउपाधिके सन्निधान बिना नहीं होता, इतनेपर भी परिणमने वाली वस्तु केवल अपनी परिणतिसे ही परिणमती है। कोई भी वस्तु निमित्तभूत अन्य पदार्थोंकी परिणतिसे अपनेको जोड़कर नहीं परिणमा करती है। लोकमें देखा जाता है कि लोग दूसरेके सुखका और दुःखका उपाय बनाते हैं, पर उस दुःखका उपाय करते हुये में भी कुछ नियम तो ऐसा नहीं है कि सुखका उपाय बनाया जाय दूसरेको, तो वह सुखी ही हो और दुःखोंका उपाय बनाया जाय तो वह दुःखी ही हो, यह कोई नियम नहीं है ये बाह्य जितने भी उपाय हैं, निमित्त नहीं कहलाते हैं, ये आश्रयभूत कहलाते हैं।

निमित्त और आश्रयः—निमित्त और आश्रयभूतमें अन्तर है। जीवके विकार परिणमनका निमित्त कर्म है न कि धन, वैभव, अन्य जीव आदि। ये कोई निमित्त नहीं हैं जीवके विभाव होनेमें, किन्तु जीवके विभाव होनेमें निमित्तभूत जो कर्म है उस कर्मके ये सब नोकर्म हैं। इसे आश्रयभूत कहते हैं। आश्रयभूत पदार्थोंमे नियम नहीं है कि वह किसी प्रकारका कोई विकार परमें करनेका निमित्त हो। तभी तो जो ज्ञानीपुरुष है वह किसी एक चीजको देखकर ज्ञानमय भाव बनाता है, और अज्ञानी पुरुष है वह अज्ञान भाव बनाता है।

भावके आश्रयका (विषयका) एक दृष्टान्तः—जैसे एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि कोई नगरमे वेश्या गुजर गयी, लोग उसे जलाने के लिए जा रहे थे उसे देखकर कामी पुरुषके यह भाव हुआ कि यह न गुजरती अभी तो इससे और मिलते, पर ज्ञानीका यह भाव हुआ कि ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर

भी इसने व्यर्थ खो दिया। इस नर जन्मसे वह अपने कल्याणका कार्य निकाल सकती थी। तो कुत्ते स्याल वगैरह मास खाने के लिए यह कल्पना करते हैं कि ये जला रहे हैं, इसे यों ही छोड़देते तो कई दिनोंका भोजन था। चीज एक है, पर भाव अनेक प्रकारके क्यों हुए ? इसका अर्थ यह है कि वह बाह्य वस्तु किसीके भावका निमित्त नहीं है किन्तु विषयभूत है, आश्रय भूत है। निमित्तभूत कर्मका नोकर्म है। जिस ज्ञानी पुरुषके उस समयमें जो भाव होते हैं उस ज्ञानीके उस प्रकारका कर्मका निमित्त है, और अज्ञानीके जो भाव होता है उसके दूसरी प्रकारकी प्रकृति निमित्त है। जिस प्रकार-की वहाँ प्रकृति है उसके उदयमें उस प्रकारका परिणाम हुआ। वहाँ तो अन्वयव्यतिरेक है, पर इन बाह्य पदार्थों के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं है।

व्यामोहमें कर्तृत्वका आशय–तो भैया ! इन आश्रयभूत चीजोंको यह जीव दुःख-सुख करने वाली मानता है। जो यों देखता है कि मैं अन्य प्राणियोंको दु:खी करता हूँ अथवा सुखी करता हूँ वह मूढ है, मोही है, पर्यायमुग्ध है। उसे अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वकी खबर नहीं है। दृश्यमान जो कुछ भी शरीर आदिक हैं इनको ही वह अपना सब कुछ समझ रहा है, और न उसे स्वतन्त्रता की खबर है। प्रत्येक पदार्थ स्वय अपना द्रव्यत्व गुण लिये हुये हैं। उस द्रव्यत्वगुणका कार्य क्या है कि वह निरन्तर परिणमता रहे। प्रत्येक पदार्थ अनादिसे सदाकाल तकके लिए अपने द्रव्यत्व गुणके कारण निरन्तर परिणमता रहा है, परिणमता रहेगा। कोई किसी की शक्ति लेकर नहीं परिणमता। पर ऐसी खूबी है कि वैभाविक शक्ति वाला जीव और पुद्गल इन दो पदार्थोंकी योग्यता विकाररूप परिणमनकी है, सो जिस निमित्तका सान्निध्य पाता है उस अनुरूप अपनेमें अपना विकार परिणमन बना लेता है।

निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी परिणमनकी स्वतन्त्रता—भैया ! यह बात नहीं है कि अशुद्ध उपादानमे केवल अगले समय होने वाली एक पर्यायकी ही योग्यता है, उसमे अनेक योग्यताए पड़ी हैं और वे योग्यताएं इस सम्भा-वनासे जानी जा सकती हैं कि इस प्रकारका निमित्त मिलनेपर यों बन सकता है, यों बनता है-यों बनेगा। यों इस सम्भावनासे जाना जाता है। जैसे कुम्हारने चाकपर घड़ा बनाया, बना रहा है, उसने हुए मिट्टीके लोंदेमें चूंकि वह घड़ा बन जायगा इसलिए क्या केवल उसमें घड़ा बननेकी ही योग्यता है। सम्भावना करो कि यदि वह घड़ा बनाने जैसा विकल्प न करके, घड़ा बनाने जैसा हाथका इतना बड़ा श्रम न करके एक सकोरा बनानेका

विकल्प करता होता और सकोरा बनानेके अनुरूप ही अपने हाथकी संकुचित क्रिया करता होता तो क्या सकोरा बनना अशक्य था ? बन जाता। उपादानमें अनेक पर्याय होनेकी योग्यता है। जैसा निमित्त पाया उस रूप परिणमा। इतनेपर भी निमित्तभूत किन्हीं भी पदार्थोंकी परिणतिसे नहीं परिणमा। अर्थात् किसी भी निमित्त भूत पदार्थने इस उपादानको नहीं परिणमाया, किन्तु उन निमित्तोंके सन्निधानमें यह मिट्टी अपनेही परिणमनसे अपने में विस्तार बनाकर परिणम गई।

सुखदुखदाता कोई न आन — भैया! समस्त पदार्थोंकी स्वतन्त्र स्वरूपास्तित्वमें व्यवस्था है। ऐसी स्थितिमें कि मैं दूसरोंको दुखी कर देता हूँ सुखी कर देता हूँ या कोई दूसरा मुझे सुखी दुखी करता है, यह भाव अज्ञान है। एक पिता या मां अपने बच्चेके प्रति वर्षों से यह भावना रखती आयी है कि यह बेटा मुझे सुखी रखेगा, बुढ़ापेमें मुझे सुख देगा, पर बेटा बड़ा हुआ, उसका मन स्वच्छन्द हुआ, वह माता, पिताको कुछ भी नहीं गिनता, परवाह ही नहीं करता, प्रत्युत उनके सुखके साधनोंसे बिल्कुल उपेक्षा रखता है। तो कोई किसीसे आशा लगाये कि यह मुझे आगामी कालमे सुखी करेगा, यह उसका सोचना मिथ्या है। क्या पता है कि वह आगामी कालमें किस प्रकारके अपने परिणाम बनाये। इसका नियम है या विश्वास है क्या कुछ ?

किसी भी जीवमें शत्रुत्व व मित्रत्वके प्रतिबन्धका अभावः—आज जिसे आप अपना परम मित्र समझते हैं वह मित्र है तब तक जब तक कि उसका कुछ स्वार्थ सिद्ध होनेमें आपसे सहायता मिलती है। जिसे आप परम मित्र समझते हैं कि यह कभी भी मेरे मनके खिलाफ हो ही नहीं सकता, आप किसी दिन उसकी इच्छाके खिलाफ कुछ कार्य तो कर दीजिये, उसकी स्वार्थ साधनामें कुछ विघात तो आपके निमित्तसे आने दीजिये, फिर भी क्या वह आपसे स्नेह कर सकेगा ? नहीं कर सकता। किसी जीवमें यह टीका नहीं लगा है कि यह मेरा मित्र ही है, यह मेरा शत्रु ही है। आज जो शत्रु है, आपका भला बर्ताव देखकर उसका चित्त इस प्रकार परिणत हो जाय कि यह आपकी भलाई सोचनेमें दत्तचित्त होने लगे।

निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी निमित्तके लक्ष्यमें हितका अभावः-यहाँ न कोई किसीको दुःखी करने वाला है और न सुखी करने वाला है, सभी जीव अपने आपमें विषय और कषायकी भावना बनाए हुये हैं। अपनी अपनी भावनाके अनुरूप वे अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं। कोई पदार्थ

किसी पदार्थको न परिणमाता है, न उसमें कुछ अपने गुण देता है, निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था अवश्य है जो कि मेटी नहीं जा सकती, चाहे वह अदल बदलकर किसी भी प्रकार हो, हो रही है, पर कल्याणार्थी जनोंको दृष्टि कहा देना चाहिए ? अपने जीवनका लक्ष्य क्या बनाना चाहिए ? यदि पर लक्ष्यही बनाया और पर चर्या ही रही तो उससे आत्मामें ज्ञान ज्योति का अनुभव तो नहीं जग सकता। उस अनुभवके जगनेके लिए तो समस्त बाह्य पदार्थों का विस्मरण करना होगा और केवल एक आत्मतत्त्व ही अपनी दृष्टिमें रखना होगा।

शुभ अशुभ शुद्ध कार्य—मैं परको दु:खी सुखी करता हूँ ऐसा बहिरात्मा पुरुष ही सोचते हैं। मैं केवल अपने परिणामोंको ही कर सकता हूँ। अपनेको दु खी करनेका परिणाम किया तो वहां इस परिणाम मात्रसे मेरा बुरा हो गया, कर्मबध हो गया, और मैं दूसरोंको सुखी होनेकी भावना रखे हूँ, जगत के सब जीव सुखी हों, इन जीवोंका सुख तो स्वभाव ही है, ये अपने सुख स्वभावपर दृष्टि तो दें इस भावको शुभ कार्य कहा है। शुभ अशुभ भावसे रहित हो, ज्ञाता मात्र रहनेको शुद्ध कार्य कहा है।

सत्‌की शाश्वत परिपूर्णता—केवल दृष्टिके मोड़ कर देने मात्रका कार्य करना है। भैया मैं स्वयं परिपूर्ण हूँ, आनन्दस्वभावी हूँ, अधूरा नहीं हूँ। इसमें कुछ बनाए जानेको नहीं पड़ा है। यह पूर्ण सत् है। पूराका ही पूरा यह विकार परिणमन करके विकृत अवस्थाको रख रहा है। उसमे भी यह पूरा है; केवल एक रग बदला हुआ है, और जब अपने आपकी उन्मुखता करेगा तबभी वही पूरा है। यह मैं सत् अधूरा नहीं हूँ कि मैं आधा तो सत्त्व रख पाया हूँ और अभी आधा सत्त्व रखनेकी जरूरत है। यह पूराका पूरा दृष्टि की विपरीततामें विकाररूप परिणम रहा है और यही पूरा का पूरा अन्तर दृष्टिमें स्वभाव रूप परिणम रहा है।

भेदविज्ञानका प्रताप—ज्ञानी जीव जानता है कि मैं मात्र अपने परिणामों को ही कर सकता हूँ। चू कि वह भेद विज्ञानमें स्थित है ना, इसलिए इस भेदविज्ञानके प्रतापसे बाह्य निमित्तोंकी दृष्टि न करके अपने आपकी ओर प्रज्ञा करता है और अपने स्वरूपकी अनुभूतिकी ओर चलता है तब उसके परम उपेक्षा सयम होता है। संयम दो प्रकारके होते हैं उपेक्षा सयम और परिहृत सयम। बचा-बचाकर प्रवृत्ति करके व्यवहार अहिंसामय बनाना, जीव दया करना, ये सब अपहृत सयम हैं, और जहाँ जीव राशि हो, पाप विकार बनानेका साधन बनते हों उनसे हटे हुए रहना यह उपेक्षा संयम है,

और वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानकर किसीमें राग न करना द्वेष न करना, ज्ञाता मात्र रहना, यह है परम उपेक्षा संयम। भेदविज्ञानके प्रतापसे ज्ञाताके उपेक्षा संयम प्रकट होता है।

कृतकृत्यता—सिद्ध भगवानको कृतकृत्य कहते हैं, प्रभु अरहंतको कृत-कृत्य कहते हैं-और कृतकृत्यताकी बात सम्यग्दृष्टिके भी दृष्टिमें प्रकट होती है। कृतकृत्य कहते हैं जो प्रभु है, केवल ज्ञानी है। कृतकृत्यता का अर्थ यह है कि कर लिया है करने योग्य काम जिसने। सो करने योग्य काम तो परवस्तुको पर जानकर उनसे उपेक्षा करके अपने आपमें अपनी उपलब्धि करना, यही करने योग्य काम था सो उन्होंने कर लिया। अब उनको करनेको कुछ नहीं रहा।

कृतकृत्यताका मूल भाव—अब दूसरी दृष्टि लीजिये काम किया जा चुकना तब कहलाता है जब करनेको कुछ न रहे। इस लोकव्यवहारमें भी किसीने मकान बनवाया। मकान बन चुका। मकान बन चुकनेके बाद जो एक संतोषकी सांस लेकर विश्राम मानते हैं वह विश्राम अन्तरमें देखो मकान बननेके कारण नहीं हुआ, किन्तु आज यह भाव आ पाया कि अब मेरे करनेको कुछ काम नहीं पड़ा है, इस भावका उसे विश्राम मिला है, तो कुछ काम करनेको नहीं रहा, ऐसी स्थितिका नाम कृतकृत्यता है।

सम्यग् दृष्टिकी वस्तुविषयक दृष्टि—सम्यग्दृष्टि जीव तो समस्त वस्तुओं को उन-उनके ही स्वरूपमें देखता है। प्रत्येक सत् अपनेही गुण पर्यायमें तन्मय है। मेरी परिणमन क्रिया जो कुछ होगी मेरे ही प्रदेशमें मेरे ही गुणों के परिणमनसे होगी। अन्य कोई पदार्थोंके गुणोंके परिणमनसेया परिणतिसे न होगी। निमित्त नैमित्तिक भाव है, उसे एक बार जान लिया, बार-बार अपने उपयोगमें लेनेसे उपयोगके यत्र तत्र विचरनेका अवसर बढ़ता है। इस प्रकरणमे जहाँ वस्तुकी स्वतन्त्रता देखी जा रही है वहां मात्र यह देखिए कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्यायसे तन्मय है। किसीके स्वरूपका किसी दूसरेके स्वरूपसे सम्बंध नहीं है। प्रत्येक अपनी परिणतिसे परिणमता है। वहाँ कोई किसी दूसरेको परिणमाता नहीं है। किसीके प्रदेशमें प्रवेश भी कोई दूसरा नहीं कर सकता। जहां एक क्षेत्रावगाह बंधन हो ऐसी स्थितिमें भी एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका स्वरूप नहीं रखता।

सम्यग्दृष्टिकी कृतकृत्यता—वस्तुस्वातन्त्र्यके निरखे जानेसे ज्ञानी जीवका निर्णीत हुआ परिणाम यही है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको करता कुछ नहीं है ऐसी दृष्टि सम्यक्त्वमें जग जानेपर यह ही भाव आया कि मेरे लिए पर पदार्थोंमें करनेको कुछ नहीं है। करही नहीं सकता। केवल अपना

परिणाम किया, भाव बनाया। उस भाव बनानेकी सीमामें ही रहकर उसने अपनेको सुखी किया, लो दुःखी किया। यहा तक उसकी क्रिया चली। पर वस्तुमे उसकी कुछ क्रिया नहीं चली। यों दृष्टि रखने वाले ज्ञानी पुरुषके भी कृतकृत्यता आगई। करनेको कुछ रहा नहीं।

कृतकृत्यताके उपयोगमें निरापदता—ज्ञानी जीव पर वस्तुमें करनेको नहीं मानता है कि मैंने किया है, या पर पदार्थोमे कुछ करनेके लिए अटका है। ऐसी उसको दृष्टिकी निर्मलतामें बात जच रही है इसीलिए सम्यग्दृष्टि भी कृतकृत्य है। रागसद्भाव रहने तक ज्ञानीकी कृतकृत्यताको पूर्ण तो नहीं कहना चाहिये, पूर्ण कृतकृत्यता तो प्रभुके ही है,मगर कृतकृत्यता की दृष्टि इस ज्ञानीके जगी है। जब यह कृतकृत्यता इसकी दृष्टिमें आती है तो सारे सकट, सारे उपसर्ग इसके शात हो जाते हैं। बडे बड़े योगीजन बड़े उपद्रवोंमें, फसावोंमें भी अपने ज्ञानकी उपासना करनेमें कुछ क्षण अविचल रह जाते हैं। वह प्रताप है इस निज ज्ञानस्वभावकी दृष्टिका। जैसा यह परिपूर्ण सत् है, विविक्त है, इतना मात्र निरखनेका ऐसा बड़ा प्रसाद है कि किसी भी प्रकारके सकट और उपद्रव हों, इस स्वानुभवके काल में वे सब ध्वस्त हो जाते हैं।

अज्ञान दृष्टिका परिणाम—यहां यह प्रकरण चल रहा है कि मैं दूसरे जीवोंको दु खी करता हूँ या सुखी करता हूँ ऐसे कर्तृत्व का जो अध्यवसाय है वह अज्ञान है। ज्ञानी जीवके यह अज्ञान परिणाम नहीं होता। इसी प्रकार मैं दूसरे जीवोंके द्वारा दु खी किया जाता हूँ या सुखी किया जाता हूँ, यह अध्यवसाय भी अज्ञान है। एक तो स्वय दु खी है यह जीव अपनी कल्पनाओं के कारण और फिर किसी दूसरे पदार्थपर जो कि आश्रयभूत है उसमें यह दृष्टि लगाये कि अमुक भैयाने मुझे दुःखी कर डाला है इसलिये हमारा दु ख बढ गया है, सो दु'खी तो वह था ही, एक भ्रम और बढ़ा लेने से दुःख उसका और बढ़ गया।

दृष्टि और सृष्टिः—भैया! क्लेशके प्रसंगमें यह सोचे कि मैं ऐसा ही अपना ज्ञान बना रहा हूँ, विकल्परूप परिणम रहा हूँ, जिसके कारण ये क्लेश बन रहे हैं ऐसी भावना जगे तो यह अपने आपपर जल्दी काबू पा लेगा, पर जब परकी दृष्टि जगगयी तो भ्रम और फैल गया। इस विकल्प विस्तारमें अब वह बहुत कुछ विवश हो गया। मैं दूसरेके द्वारा दुःखी,सुखी किया जाता हूँ, यह अध्यवसाय भी निश्चित अज्ञान है। जिसके यह अध्यव-

साय है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्या दृष्टि है और जिसके यह अध्यवसाय नहीं होता है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है।

मैं जीवको सुखी दुःखी करता हूँ अथवा मैं किसी अन्यके द्वारा सुखी होता हूँ ऐसा परिणाम करना अज्ञान क्यों है ? ऐसा प्रश्न होनेपर निम्नलिखित तीन गाथावोंमें उत्तर दिया जा रहा है।

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥२५४॥
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे
कम्मं च ण दिंतितुह कह तं सुहिदो कदो तेहिं—॥२५६॥

सुख दुःखका कारणः—जब कि जीव कर्मके उदयसे ही दुःखी और सुखी होते हैं और किसीके कर्मको तुम दे सकते नहीं हो तब फिर तुमने उनको दुःखी सुखी कैसे करदिया। दुःख और सुख मोहनीय कर्मोंकी सहायतासे वेदनीय कर्मोंके उदयके निमित्तसे होते हैं, मोहनीय कर्मका उदय न हो और वेदनीयका उदय हो ऐसा तो सम्भव हो सकता है, पर वेदनीयका उदय न हो और मोहनीयका उदय हो, यह सम्भव नहीं है।

विभावों व कर्मोंमें सम्बन्ध एवं स्वतन्त्रताः—यहां जीवके विकारोंका और कर्मोंका परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। ऐसा नहीं है कि जीवके जब विकार होता है तब होता ही है इस जीवके ही कारण तथा उस समय जो सन्निधि में कर्मोदय होता है उसको निमित्त कहते हैं। और ऐसाभी नहीं है कि कर्मोंका उदय इस जीवमें कुछ अपनी क्रिया करता हो, दोनो ही जगह उसका अपना-अपना परिणमन है। फिर भी इस विकार परिणमन करनेवाले उपादानमें ऐसी कला है कि वह पर उपाधिका निमित्त पाकर अपने आपमें विकाररूप परिणमन कर लेता है ऐसा ही वचनागोचर एक सम्बन्ध है जिस सम्बन्धको स्पष्ट करने के लिये कोई विशेष ऐसा शब्द नहीं है जहाँ यह भान हो जाय कि निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध भी है, और फिर भी उन पर पदार्थों में अपना ही अपना स्वतन्त्र परिणमन है। जिसका निर्मल शुद्ध परिणाम होता है, प्रामाणिक परिज्ञान होता है ऐसे पुरुषको यह सब प्रसंग स्पष्ट विदित हो जाता है।

मोक्षमार्गका अवसर—कर्मों का उदय होता है तो जीवमें विकार परिणमन होता है और जीवमें विकार परिणमन होता है तो उसका निमित्त पाकर

नवीन कर्मों का बन्धन हो जाता है। ऐसी स्थिति सुनकर यह शंका न करनी कि जब कर्मोंका उदय होता है तो विकार हुआ और विकार हुआ तो कर्मोंका बन्धन हुआ। जब कर्मों का बन्धन हुआ तो उदय आयगा, जब उदय आया तो फिर विकार हुआ। इस प्रकार तो कभी संसार छूट नहीं सकता। ऐसी शंका इस कारण नहीं करना चाहिये कि पदार्थों के विविध परिणमन हुआ करते हैं।

मंद अनुभागके उदयका अवसर—भले ही अनेक समयोंके पहिलेके कर्म बंधे हुए आज उदयमें आ रहे हैं, सो जब वे कर्म बंधे थे उस बंधके समयमें ही बद्ध कर्मोंमें निषेकोंका भाग होगया था कि अपनी स्थिति पर्यन्त आबाधा-कालको छोड़कर बाकी सारी स्थितिमें अमुक-अमुक समयमें इतने-इतने अनुभाग वाला इतने-इतने प्रमाणमें निषेकका उदय होगा। जैसे कि एक पूर्व समयका निषेक विभाग होगया इसी तरह अनेक पूर्वबद्ध समयोंका निषेक विभाग हो जाता है। उस विभागके समयमें यह बड़ा बंटवारा होता है कि इस समयमें इतनी शक्तिके साथ उदय होगा, अमुक में इतनी शक्तिके साथ उदय होगा। ऐसे समस्त बंधे हुए निषेकोंका एक समयमें अपने-अपने भागों के अनुसार अनेक निषेकोंका उदय होता है और उस भागके कारण कोई समय ऐसा भी होता है कि जिस समय मंद अनुभागका उदय हो। ऐसी परिस्थिति होती है निमित्तकी ओरसे।

विशुद्धिके अवसर—अब उपादानकी ओरसे देखिये। कर्मों के क्षयोपशम की लब्धिके होनेपर इस जीवकी विशुद्धि बनती है और वे विशुद्धियां किस प्रकारकी कर्म परिस्थितिसे कितनी प्रकार तक की सीमाओं के भीतर हो सकती हैं? उनमेसे यथा अवसर, जितना भी जघन्य अनुभागोंका विभाव बन सकता है, कषायका परिणमन हो सकता है ऐसे धीरे-धीरे आत्म बृह्म की ओर होने वाले परिणमनसे फिर इसकी विशुद्धि अधिक बढ़ती है और इस प्रकार फिर कर्मोंमें भी संक्रमण, निर्जरण, सम्वरणकी वृद्धि हुआ करती है। और योंफिर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पूर्वक आत्मामें विभाव कमहोता है और कर्मोंमें ह्रास होता है।

उपयोग द्वारा कभी किसी विभावकी पकडका अभाव—तीसरी बात यह है कि इस जीवको जब कुछ साधारण रूपसे कुछ बोध या भेद विज्ञान जगता है और जब उपयोग इस भेदविज्ञानके प्रतापसे, अपने प्रज्ञाबलकी वृद्धिसे तथा किसी अन्य शुभमें चित्त लगा होनेसे विभावको अङ्गीकार नहीं करता है, ग्रहण नहीं करता है, सो कर्मोदयज विकार होनेपर भी चूंकि उन्होंने

उपयोगमें स्थान ग्रहण नहीं किया इस कारण वे अब तीव्र बंध करने के निमित्त नहीं पाते हैं अन्यप्रसंगमें प्रथम तो यह बात है कि नवीन कर्मोंका जो बधन होता है उन नवीन कर्मोंके बंधनका निमित्त है उदयागत कर्म, जो कर्मनिषेक उदयमें आये हुए हैं वे होते हैं नवीन बंधनके निमित्त। पर उन उदयागत कर्मों मे नवीन कर्मोंके बंधनका निमित्तपना हो जाय, इसके निमित्त होते हैं ये रागादिक विकार और ये रागादिक विकार तीव्र बधन करानेके निमित्तमे निमित्तत्वका निमित्त बन जाय, इसमे कारण है उपयोग का विकारमे प्रवेश। यदि उपयोग विकारकोग्रहण करता है अर्थात् विभाव अपनी बुद्धिसे उपयोग द्वारा आता है तो उन विकारभावोंके निमित्तसे उदयागतकर्मोंमें तीव्र कर्मबंधनका निमित्तपना हो जाता है। ऐसे अनेक तत्वोंके कारण ऐसी परिस्थिति प्रकट होती है कि जीवको अपने विकाशसें बढ़नेका बल प्रकट होता है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बतानेका प्रयोजनः—कर्मों के उदयका जीवके विकारकेसाथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है अर्थात् कर्मोदयके बिना जीवमें विकार नहीं होता है तिस पर भी कर्म प्रकृति जीवमे कुछ भी अपना द्रव्य गुण पर्याय असर नही डालती है किन्तु ऐसा ही सहज मेल है कि अमुक प्रकारकी विकार योग्यता वाला उपादान अनुकूल निमित्तको पाकर अर्थात् जिस निमित्तको पाकर यह उपादान अपने आपमें विकार परिणमन कर सकता है ऐसे निमित्तको पाकर यह उपादान अपनी प्रकृतिसे विकाररूप परिणाम लेता है। इस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को बतानेका प्रयोजन यहां यह है कि हे हितार्थी जीव ! तू किसी जीवमे दुःख अथवा सुख उत्पन्न कर देता है इस प्रकारका भ्रम मतकर और परकी ओर अपना लक्ष्य मत बढा। तू किसी भी जीवके सुख अथवा दु खको उत्पन्न नहीं कर सकता ये जीव स्वय ही कर्मोके उदय का निमित्त पाकर सुखी और दुःखी होते हैं।

सुख दुःखोंकी कल्पनामूलकता:—सुख नाम है साता परिणामका और दु ख नाम है असाता परिणामका जहाँ इन्द्रियोंको सुहावना लगे उसे कहते हैं सुख और जहां इन्द्रियोंको असुहावना लगे बेचैनी महसूस हो उसे कहते हैं दु ख परिणाम सुख दुखऔरका सम्बन्ध केवल वेदनीय कर्मके उदयसे नहीं है। वेदनीय कर्मका उदयतो सुख दु.खका यद्यपि साक्षात निमित्त है पर जब तक मोहनीय कर्मके उदयकी सैन नहीं प्राप्त होती तब तक जीवको सुख अथवा दु ख नहीं उत्पन्न होता। जैसे मानो ज्ञानी जीवको भी वह ही वातावरण मिलता है जो एक अज्ञानी पुरुषको मिलता है। अज्ञानी जीवतो उस

वातावरणमें रहकर मोहनीयके उदयमें राग बनाकर, कल्पनाएं बनाकर दुःख अनुभव करता है जब कि ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूपके यथार्थ मर्मको लक्ष्यमें लेकर क्षोभ नहीं करता है।

क्षोभहारी ज्ञानबल—ज्ञानी जीव पदार्थोंका स्वरूपचतुष्टय, उनकी स्वरूप सीमा उन उन पदार्थोंमें ही आरोपित करके किसका किसतरह क्या सम्बन्ध है। यह भी जानता है और पदार्थोंका स्वतन्त्र स्वरूपवर्तन भी निरखता है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके प्रदेशोंमें अपना परिणमन करके उस परिणमनको समाप्त कर देता है, और नवीन परिणमन कर लेता है, यों प्रत्येक पदार्थमें अपने स्वरूप परिणमनकी धारा चलती रहती है। कोई किसी दूसरेके परिणमन का कर्ता नहीं होता है। ऐसा विशद ज्ञान होनेके कारण इस ज्ञानी जीवको ऐसे वातावरण में भी रहकर जहा कि यह अज्ञानी संकल्प विकल्पवश दुःखी रहता, ज्ञानी दुःख अनुभव नहीं करता

ज्ञान बलका प्रताप—भैया! पुराण पुरुषोंमें अनेक पुराण पुरुष ऐसे हुए जिनपर असाताके उदयवश कितनेही उपद्रव और उपसर्ग आये—ऐसे कठिन उपद्रव जिन्हें साधारण पुरुष सह नहीं सकता— जैसे गोबरके उपलाभरे कोठे में बंदकरके उपलोंमें आग लगा देना, नदीमें पटक देना, अग्निसे तपाये गए लोहेके डंडोंको अगोंमें चिपटाना, सिरपर अगीठी जलाना, स्याल स्यालिनियों द्वारा खून भक्षण किया जाना, क्रूर जानवर सिंह आदिकों द्वारा हमला करके जान लेना। कितने कठिन उपसर्ग हुए हैं उन तपस्याओंके बीचमें भी यह पवित्र आत्मा रचभी विचलित नहीं हुआ है। यह सब किसका प्रताप है? ज्ञान बलके कारण मोहनीय कर्मोंके उदयको निष्फल बना दिया जाता है, और मोहनीयकी जहा सैन नही मिली वहा वेदनीयका इतना तीव्र उदय है फिर भी वे महामुनि अपने स्वभावज आनन्दकी तृप्तिसे विचलित नहीं हुए।

हितार्थीका लक्षितव्य—सुख दुःखका मूल है तो मोहभाव है। सो यद्यपि वर्तमान स्थिति विकारकी है, विकार निमित्त पाये बिना नहीं होते लेकिन अब हम और आपकरें क्या। निमित्तकी सिद्धिमें, निमित्तकी चर्चामें, निमित्त की दृष्टिमें हम अपने क्षण गुजारें तो हितकी बात तो नहीं मालूम देती है। यह सब तो निर्णय किए जानेका काम है। हो गया निर्णय, पर दृष्टि किस ओर लगाना है? इसके लिए प्रकट यह उपदेश किया गया कि हे कल्याणार्थी तू अपनी ओरही दृष्टि दे तू केवल अपने आत्माकी ओरही दृष्टि रख। क्या यह आत्मा किसी परके स्वरूपको लपेटे हुए है? इसके स्वरूपको निरखो प्रत्येक पदार्थ मात्र अपना स्वरूपही रखता है।

सप्तभंगीके प्रयोगमें वस्तु स्वातन्त्रकी झलक—देखो भैया ! सप्तभंगीमें पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है, ऐसा दुबारा कह-कहकर उपदेश दिया ग । है। केवल इतनाही नहीं बताया कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, साथही मे यहभी बताते जाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ किसी परके रूपसे त्रिकालमें भी नहीं है। इतना जोर देकर सप्तभगी अनेकान्तमें इस तत्त्वको दिखाया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही सत् है। इसका अर्थ यही हुआ ना, कि अपनेही द्रव्यसे, अपनेही क्षेत्रसे, अपनेही कालसे अपनेही भावसे सत् है, तब दूसरे भगकी ओरसे यह निर्णय हुआ ना, कि कोईभी पदार्थ दूसरेके द्रव्यसे सत् नहीं है, दूसरेके क्षेत्रसे सत् नहीं है, दूसरेके काल से सत् नहीं है, दूसरेके भावसे सत् नहीं है।

स्वपररूपसे सत्त्वासत्त्वका विश्लेषण—"भैया ! सप्तभगीके कन्ट्रोलकी कृपा शीलता समझनेमे उदाहरणके लिए प्रकृत प्रसंग ही लेलो। कर्मोके उदयका निमित्त पाकर जीव बिकार परिणमन करता है। यहाँ मानलो २ चीजें रक्खी एक यह विकृत जीव और दूसरे ये कर्मोदयपरिणत पुद्गल। क्या कर्म पुद्गल जीवके स्वरूपसे सत् है ? कैसे कहा जायगा ? यहतो सप्तभगी सिद्धात से ही स्पष्ट है। क्या यह जीव कर्मपुद्गलके स्वरूपसे सत् है ? नहीं है। तो इसका अर्थ यह हुआ ना कि जीव कर्मोंके द्रव्यसे सत् नहीं है, कर्मों के क्षेत्र से सत् नहीं कर्मों के कालसे सत् नही, जीवके क्षेत्रसे सत् नहीं। कितनी सावधानीसे ज्ञान करना है कि इन दोनोंमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बंध होकर भी ये दोनों कैसे स्वतंत्र सत् हैं।

कर्मके चतुष्टयसे जीवका सत्त्व न होना—जीव कर्म द्रव्यकी अपेक्षा सत् नहीं है, इसका अर्थ यह है कि कर्मोंका प्रदेश कर्मोंका गुण पर्याय पुञ्ज कर्मों का पिण्ड जीवका स्वरूप नहीं बन जाता है। जीव के क्षेत्रसे सत् नहीं है, अर्थात जीवकेप्रदेश जीवके स्वरूप हैं कर्मके परमाणुकर्म पुद्गलके स्वरूप हैं, कर्मकेकालसे जीव सत् नहीं, इसका अर्थयह है किकर्मोकी परिणतिसे जीवका परिणमन नहीं है। जीवमे जीवका परिणमन है, कर्ममें कर्मका परिणमन है चर्चामे बारबार चित्तमे न लाओ कि निमित्त नैमित्तिक सम्बध तो है ? है तो एक बार ज्ञान करके उसे रख दिया। उसका विरोध करके यदि दृष्टि बनायी गयी हो तो वहां बारबार इस चर्चाको उठानेका काम होना चाहिये था। जीव कर्मोंके भावसे सत् नहीं इसका अर्थ यह है कि कर्मोंमें जो गुण हैं, शक्ति है, अनुभाग है, वह कर्ममे ही है, वह जीवमे नहीं आता।

जीवके चतुष्टयसे कर्मका सत्त्व न होना—इसी तरह जीवके द्रव्यसे कर्म

सत् नहीं है इसका अर्थ यह है कि जीवका जो स्वरूप है, द्रव्य है, गुण पर्यायात्मकपना है, चैतन्यात्मकता है वह जीव में ही रहती है वह चैतन्यात्मकता कर्ममें नहीं पहुचती है। जीवके क्षेत्रसे कर्म नहीं है इसका अर्थ यह है कि जीवके प्रदेश जीवमे ही होते हैं। कहीं कर्म जीव द्रव्यात्मक नहीं बन जाते है। जीवके कालसे कर्म नहीं है इसका यह अर्थ है कि जीवकी किसी परिणतिसे कर्मोकी परिणति नहीं होती है। निमित्त नैमित्तिक भाव है उसे ज्ञात करके छोड़ देना है। समझलो, पर यहाँ इस सप्त भगीसे यह निर्णय तो किया जाय कि किसी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यमें क्या रंचभी प्रवेश है ? इस बातके समझनेके बाद निमित्त नैमित्तिक सम्बधका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। जीवके भावोंसे कर्म सत् नहीं है इसका अर्थ यह है कि जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक जो गुण हैं वे शक्तया जीवमें ही होती है वे कभी कर्ममे नहीं पहुच सकती है त्रिकालमे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं है ज्ञानी वस्तुके स्वातंत्र्यको यों विशद जान रहा है। सो जो निमित्त भूत कर्मोंमे भी यह देख रहा है कि यहाभी प्रत्येक द्रव्यका अपना अपना अपनेमें परिणमन चल रहा है ऐसा ज्ञानी जीव इस मिले हुए बाह्य समागमोंमें क्या यह भ्रम कर सकेगा कि मैं दूसरे जीवोंको सुखी करता हूँ अथवा दुखी करता हूँ।

पुण्योदयीकी छाट—भैया ! सोचते हैं लोग ऐसा कि मैं अपने बच्चोंको पाल रहा हूँ, पोष रहा हूँ, सुखी कर रहा हूँ, पर यह तो बतलावो कि वह दो एक वर्षका बालक आपको प्रसन्नकरनेकी भी कुछ चेष्टाकर रहा था या आपही उस बालकको प्रसन्न करनेके चेष्टा करते हैं ? सोचलो खूब विचारकर, बच्चा आपको प्रसन्न करनेकी कुछभी चेष्टा नहीं करता क्योंकि उस दो-एक वर्षके बच्चेको अभी उतना होश भी नहीं है, आप ही उसको प्रसन्न रखनेका बड़ा श्रम करते हैं। उसे हाथोंहाथ उठाये फिरते हैं, गोदमें रखकर खिलाते हैं। उसके खेलनें के लिये छोटी छोटी बग्घिया मगाते हैं, उसको खिलानेको नौकर दासी रखते हैं। कितनी आप उस बालककी सेवा कर रहे हैं। क्या वह बालक आपकी कुछभी सेवाकर रहा है। ऐसी स्थितिमे आप यह बतलावो कि पुण्य आपका बडा है या बालक का बडा है। जिस बालकको आप टक-टकी लगाकर देखते हैं, नाना प्रकार से उसकी सेवा करते हैं ऐसे बालक का पुण्य बडा है, आपका पुण्य बडा नहीं है, बालकका पुण्य बडा है जिस पुण्योदयके निमित्तसे आपको उसकी सेवा और चिंता रखनी पड़ती है।

सुखदुःखदातत्वके अध्यवसायकी अज्ञानरूपताका कारण—तो भला जिसके

पुण्यका इतना बड़ा उदय चल रहा है उसके सम्बन्धमें ऐसा ध्यान बनाना कि मैं इसे सुखी करता हूँ, मैं इसे पालता हूँ, पोषता हूँ यह कहां तक युक्त है। सभी जीव अपने कर्मोंके उदयसे दुःखी और सुखी होते हैं। कर्मोंको तुम देते नहीं तब फिर यह भाव क्यों करते हो कि मैं दूसरे जीवोंको सुखी करता हूँ अथवा दुःखी करता हूँ, यह अध्यवसाय करना इस कारण अज्ञान है कि बात ऐसी है नहीं और मानता जा रहा है।

सुख दुःखका अवश्यभावी निमित्त कर्मोदय—जब कि जीव कर्मोंके ही उदयसे सुखी और दुःखी होते हैं तो मैंने सुखी दुःखी किया परको यह कैसे सत्य हो सकता है। सारांश कि जो सुख दुःख हैं वे जीवके अपने आप सहज स्वभावसे नहीं होते हैं, होते हैं यद्यपि इस आत्माकी परिणतिमें, पर सहज स्वभावसे होने लगे तो फिर यह या तो अटपट हो जायगा या कभी नष्ट हो जायगा, और नष्ट होकर भी, फिर हो जायगा, धोखा बना रहेगा तो सुख दुःख जीवके स्वाभावसे यदि बनते होते, उनमें कर्म उपाधिका निमित्त न होता तो जब चाहे सुख हो जाय, जब चाहे दुःख हो जाय, जब चाहे मोक्ष हो जाय, जब चाहे संसारमें आ जाय सारी अव्यवस्था हो जायगी। इसलिये ये सुख दुःख जीवके स्वभावसे नहीं होता है। और न ये अन्य जीवोंके करनेसे होता है, क्योंकि सुख और दुःख जीवमें कर्मोंके उदयके निमित्त से होते हैं। उस कर्मोदयमें यदि फेरफार हो तो सुख दुःखमें भी फेरफार हो सकता है पर किसी दूसरे को कर्ममें कोई दूसरा फेरफार नहीं कर सकता है इसकारण दूसरेके द्वारा सुख दुःख नहीं होता है।

उपदेशका प्रयोजन—ऐसे उपदेशका प्रयोजन यह है कि तू अपने इस अकृत्रिम, अविनाशी सहज चैतन्यस्वरूपकी ओर दृष्टि दे। इस सुख दुःख दिए जानेका विकल्प बनाकर कायर मत बन अथवा अहंकारी मत बन। ये सब मायारूप हैं इनसे निवृत्त होओ और अपने विज्ञान घन केवल चित्-प्रकाशकी दृष्टि कर। इस प्रसंगसे अन्तरमें यह एक ध्यान देना कि ये सुख दुःख यद्यपि कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं किन्तु कर्मोदय की अवस्था जो कर्मोंमें है वह कर्म प्रदेशोंसे निकल कर जीव प्रदेशमें आती हो ऐसा नहीं है, किन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक मेल है कि उस योग्य परिणमन सकने वाला उपादान ऐसे योग्य अनुकूल निमित्तको पाकर अपनी परणति से विकाररूप परिणम लेता है। तू निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके प्रसंगमें भी अन्तरमें प्रत्येक द्रव्यके स्वरूपको दृष्टि करके यह जान कि वहाँ भी सर्वत्र

परिणमन खुदमें खुदका ही हो रहा है। सर्वत्र अपनी स्वतंत्रता की दृष्टि दृढ बना, इसके लिये ही समस्त उपदेश हैं।

दूसरोंके द्वारा सुखी दुखी न हो सकेगा एक दृष्टान्त—जब तुम्हारे कर्मों को दूसरे लोग दे नहीं सकते तो फिर उन्होंने सुखी दु खी कैसे किया। क्यों मान रहे हो कि दूसरे जीव मुझे सुखी अथवा दु खी करते हैं ? श्रीपाल पुराण में ही तो पढा है न, कि श्रीपालको धवलसेठने नष्ट करनेके लिये क्या किया व नीचा दिखानेके लिये क्या ढोंग रचा था। समुद्रके बीच किसी भी प्रकार श्रीपालको पटक दिया, लेकिन किसीके दु खी करने से कोई दु खी हो जाय ऐसी किसीके हाथकी बात नहीं है, वह गिर करके किनारे पहुच गया। पुण्यके उदय से वहाके राजाने आधा राज्य दिया और राजाने अपनी पुत्री से विवाह भी कर दिया। इतने पर भी धवल सेठ न माना तो खुद भी अपने दोस्तोंके सहित भाडों जैसा रूप बनाकर राजाके दरबारमें जाकर वे सब गीत गाने लगे। और श्रीपालको अपना भांजा भतीजा बतलाकर ऐसा जतलाने लगे कि श्रीपाल तो भांडों का लड़का है। इसके बाद राजाको क्रोध आया तो श्रीपालको प्राणदण्ड देने लगा। मगर उदयकी बात सर्वत्र देखते जावो श्रीपालका और यश व सुख बढा।

व्यावहारिकतासे परिचयः—भैया ! वहा ही क्या अपने इस जीवनमें ही रोज-रोज देखते जावो। कितनी ही आपमें सामर्थ्य हो, कितना ही आपमें ऐश्वर्य हो, आपका काम समय पर नहीं होता। कोई न कोई बात से आपको बाधा हो जायेगी, और कोई जीव कितना ही आपको बाधा देनेका, दु:ख देने का विकल्प बनाये हो, कार्य क्रम बनाये हो लेकिन आप पर कुछ असर नहीं होता बल्कि बुरी की जाने वाली चेष्टाओंके निमित्तसे कुछ समृद्धि हो जाती है। कोई जीव किसी दूसरे जीवको दुःखी नहीं किया करता। जीवके दुःखमें साक्षात निमित्त कर्मो का उदय है। पर इतनी दृष्टि अपने आप पर करुणा करके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके प्रसगमें भी बनाए रहना चाहिये कि उस निमित्तके सन्निधान में यह उपादान अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणमता है, न कि निमित्तकी परिणतिसे। इतनी बात चित्तमें ओझल न करना चाहिए। सम्बन्ध है और जबकर्मोदयका निमित्त होता है उस समय नोकर्मरूप आश्रयरूप दूसरे जीव या अचेतन पदार्थ हुआ करते हैं। तो व्यवस्था में बताया है कि जगतकी व्यवस्था इस प्रकारसे है !

कैवल्यकी उपादेयताः—भैया ! जिसे कैवल्य चाहिए हो उसे तो कैवल्यकी दृष्टि करना चाहिए। कैवल्य का अर्थ है केवल रहजाना। अकेला रहजाना जैसा स्वय यह अपने आप है वैसा ही रहजाना इसका नाम है कैवल्यकी

प्राप्ति। मैं द्रव्यकर्म भावकर्म, व नोकर्म रहित तो होना चाहूँ और अपने आपके ऐसे कैवल्यस्वभावको न देखूं-जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित है अर्थात् न तो आश्रयभूत पर पदार्थोंका इस में प्रवेश है और न निमित्त भूत द्रव्यकर्मका इस चैतन्य स्वभावमें प्रवेश है और न नैमित्तिक भावका इस चैतन्यस्वभावमें प्रवेश है, विभाव परिणमन होते हुए भी विभावका स्वभावमें प्रवेश नहीं है अर्थात् वे सब विभाव स्वभावरूप नहीं हो जाते। प्रयोजन कैवल्यकी प्राप्तिका है और कैवल्यकी प्राप्ति, कैवल्यकी दृष्टि, आलम्बन, अनुष्ठान स्थिरतासे होती है। जितनाभी वर्णन है, जितना आचरण है, व्रत, तप, संयम है सबका प्रयोजन इस कैवल्यको अपनी दृष्टि में सुरक्षित बनाना है।

तत्त्वप्रकाशके बिना विपदावोंका अभाव—भैया! जीवको जो विषयकषायों की विपत्तियाँ घेरे हैं उसका कारण क्या है कि विषय कषाय भाव कलकसे रहित सहज ज्ञानानन्द रससे निर्भर अपने स्वरूपकी दृष्टि नहीं करते। तब जहा उन्हे मौज जचा, जहां उ हें कुछ सुख प्रतीत हुआ वहा उनकी दृष्टि लगेगी ही। एक मिथ्यास्वभावका खण्डन किया जाने पर सत्मार्ग पर चलने का उत्साह बन सकता है किन्तु जब तक मोहका सद्भाव है, मिथ्याधारणा है तब तक इस जीवको मोक्ष मार्ग नहीं है। जाये कहा? वह रास्ता ही उसे नहीं सूझा। मुझे बनना क्या है? इसका अनुभव ही नहीं हो पाया। तो इस प्रकार अपने इस आनन्दमय ज्योतिर्मय स्वभावको अपने उपयोगमे सुरक्षित बनाए रखनेके लिये ज्ञानी पुरुष इन व्यावहारिक प्रसंगोंमें यह भावना कर रहा है कि मेरे कर्मोंको कोई द्वारा जीव देता नहीं है, इसलिए मैं किसी दूसरेके द्वारा दु खी नहीं किया जाता हूँ।

प्रत्येक दुःखमें मूल कारण अपना अपराध.—भैया! जो भी दुःखी होता है वह अपने अपराधसे दुःखी होता है, यदि यह जीव निरपराध हो तो दु खी नहीं हो सकता है। जगतकी ओर दृष्टि की यह ही प्रथम अपराध है। किसी ने कोई अपमानजनक वचन कहा उसको सुनकर हम दुःखी होते हैं। तो यह लगाव रखकर ही तो दु खी होते हैं कि इनचार आदमियोंमें इसने मेरी तोहीनीकीहै। अरे इन चार आदमियोंपर अपने सुखके लगावकी दृष्टि से निगाह रखना प्रथम तो यह अपराधकिया और इस अपराधके कारण विकल्प हुआ, इनविकल्पोंसे यह दुःखी हुआ, उस अपमानजनक शब्द बोलने वाले ने दु.खी नहीं किया, वह तो अपने कषायके अनुकूल अपना परिणमन करके अपनेमे ही समाप्त हुआ उससे मुझे दु ख नहीं आया। किन्तु मैं ही

कल्पनाएं बनाकर दुःखी हुआ। ऐसी कल्पनाएं बनाना यही मेरा अपराध है और उस समय उस प्रकारके कर्मोदयका निमित्त है।

परजीवसे सुखका अलाभ—जैसे किसी जीवके द्वारा मैं दुःखी नहीं किया जा सकता। इसीतरह सुखके सम्बन्धमें भी सोचिए कर्मोंके उदयसे जब जीव सुखी होता है और कर्मोंके उदयको कोई दे सकता नहीं या मैं किसीको दे सकता नहीं हूँ तो मुझे दूसरे जीवने सुखी अथवा दुःखी कैसे किया। अकृतपुण्यकी कथा सुनी होगी, जिसने कोई पुण्य नहीं किया था अथवा किसी धर्म कार्यमें बाधा डालने वाला कोई अकृतपुण्य बना वह राजपुत्र था उसके पैदा होते ही राज्यमे विघन आने लगे और प्रजामे संकट छाने लगे तो प्रजाजनोंने मिलकर कहा कि महाराज इस पुत्रके रहते हुए तो आपका भी अनर्थ है और हम लोगोंका भी अनर्थ है इस कारण इसे देशसे अलग करदें तो सुख साता रहे। मांकेसाथ वह अकृतपुण्य चला। राजाने बड़ा धन वैभव साथ लगा दिया ताकि दुःख न हो किन्तु रास्तेमे वह वैभव खिर जाता है, असर्फियां भी अग्निरूप रख लेती है। कितने सुखके साधन जुटाए पर उसे सुख नहीं प्राप्त हो सका।

संसारकी क्लेशरूपता:- भैया! वैसे तो जगतमें सुखरंचभी नहीं है, सारे क्लेश ही क्लेश हैं। किसको सुखी मानते हो? वैभव अच्छा आ गया, आमदनी अच्छी हारही है यह कोई सुख है क्या? ऐसी स्थितिमें क्या आकुलता और बेचैनी नहीं रहती है? क्या अपने पवित्र परमात्मस्वरूपसे हटकर इन जड़ पदार्थोंसे आनन्द पाया जाता है? रंचभी आनन्द इन बाह्य पदार्थोंसे नहीं पाया जाता है। चार आदमियोंके प्रसंगकी कुछ बात सुननेको मिले तो उससे कौनसा आनन्द मिलेगा? क्या निराकुल होकर यह बैठ सकता है? अपने आपके चित्तमे विकल्पोंकी चक्की यह नहीं चला रहा है क्या? जितनी अकुलताए निन्दाके सुननेमें होती है अन्तरमें उतनेही क्लेश प्रसंसाके सुननेमें होते हैं, पर दृष्टि इसने विपरीत कर रखी है, इस लिए प्रशंसामें समृद्धिमे यह मौज मानता है।

सुखका कारण स्वयकी समीचीनता—कैसाही कष्ट आए। कैसेही वचनोंकी बौछारहो, यदि यह ज्ञानघन आत्मा आनन्दके श्रोत भूत अपने स्वभावमे विहार करे, उस ओर उन्मुख रहे बाहरमे जो कुछ होता हो उसकी बलासे, उनको मैं कुछ नहीं करता, वे मेरेमे कुछ नहीं करते, ऐसा अपना साहस बनाकर अपने आपके स्वभावकी उन्मुखताकी ओर चलें तो इसका सहज आनन्दही है और यह स्थिति, यह आनन्दका परिणाम इस जीवके भव भव

के कर्म क्लेशोंको नष्ट कर देता है। मुझे कोई दुःखी नहीं कर सकता। मैं ही स्वयं उल्टा चलूं और लोग मुझे सुख दें, यह कैसेहो सकता है। जब तक आप खुद भले हैं तब तक दूसरे जीवोंके द्वारा आपको बाधा, कष्ट नहीं पहुंच पाता है, और यदि आपही अपने भलेपनको छोड़कर व्यवहार मेंभी न देखे जाने वाले कुमार्गको अपना ले तो उससेतो आपके घरके लोगभी आपके ऊपर आफत डालेंगे, उपद्रव करेंगे।

भली दृष्टि—तो किसी जीवके द्वारा सुख मिलरहा है क्या ? खुद भले हैं तब सुख हो रहा है। खुद भले न रहें तो कोई हमारे सुख सातामें रंचमात्र भी सहायक नहीं हो सकता परम उपेक्षा संयममें लगानेके लिए ऋषीजनोंका उपदेश है, और जो भी उपदेश हो, जिन नयोंका उपदेश हो उस कालमें उस नयकी पूर्ण दृष्टि रखकर उस विषयको समझकर अपना प्रयोजन निकाल लें प्रयोजन है निज स्वभावकी दृष्टि होना। विवादके काम ऐसेहैं कि जैसे किन्हीं आदमियोंमे झगड़ा होता हो और उस झगड़ेके बीच खड़े हो जायें तो खुद परभी कुछ संकट आ सकता है। पुलिस गवाहीमें ले। और कुछ न कुछ बात बन जाय। तो यह विवादका अवसर विवादमें पड़ना, उस विवादमें रचभी प्रवेश करना, एक ऐसा संकट प्रवाही अवसर है कि उससे विकल्पोंका सकट बढ़ना तो सुगम है पर उससे विकल्प हल्के कर लेना, कम कर लेना, अपनेमें और दूसरेमे शान्तिका वातावरण बना सकना यह दुर्गम है ! भैया

विवाद नाशिनी विधि—कौनसा विवाद ? विवाद रखने वाले लोग विवाद रखे क्योंकि किसीभी बातको जिस दृष्टिसे कहा गया है उस दृष्टिमे न माने और अन्य दृष्टियोंको मानले तो वह विवादमें है ही, सकटमे है ही, और जिस दृष्टिसे जो वर्णन हो उस वर्णनको यदि बहुत विशद स्पष्ट निष्पक्ष समझना है तो जब तक उस दृष्टिकी मुख्यताको उपयोगमे न रखें तब तक वह बात विशद समझमे आ न सकेगी। निश्चयकी बात जब कहीजा रहीहो तो दृढ़ताके साथ पूरा बल देकर एवं लगाकर, 'ही' लगाकर उसबातको कहने में मनमें संकोच न करना चाहिए। यह बात हमे सप्तभंगी न्यायने सिखाईया तो है।

नयके क्षेत्रमें एवकारका प्रयोग—भैया ! सप्तभंगीमें कहते हैं ना, स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव। पदार्थ इस अपेक्षासे है ही लगानेमें नयके साथ कोई बुरी बात नहीं है। नयके साथ "ही" लगानाही चाहिए। जैसे किसी पुरुषके बारेमें यह कहा जाय कि यह अमुकका पुत्रही है, तो यह गलत है क्या ? 'ही' लगाना उत्तम बात है, और यदि यह कहा जाय कि यह अमुकका पुत्रभी

है तो गलतहो गया। नय लगाकर "भी" लगाना गलत मार्ग है, नय लेकर ही लगाना सही मार्ग है। जब आप निश्चयको दृष्टिमे लेकर जिसका कि विषय, केवल एक पदार्थका देखना है, एक अखन्ड स्वभावका निरखना है, निश्चय जब एक पदार्थको निरखनेका काम कर रहा है तो जब हम उसकी दृष्टिमे होकर पदार्थको जानते हैं तो एक निर्णयके साथ कहो कि एक द्रव्यमें दूसरा द्रव्य कुछ नहीं करता। कुछ नहीं लगता। रंच सम्बन्ध नहीं। फिर कहनेमें सकोचकी बात नहीं। हा अगर नय छोड दें और फिर 'ही' लगावेंतो दोष है।

नयकी समझसे विसंवादका अभाव—जैसे किसी जवानके बारेमे कहा जाय कि यह पिता ही है तो सभी लोग लाठी लेकर दौड़ेगे कि कैसे कह दिया कि यह पिताही है, अरे इसने सबका पिता बना डाला। अपेक्षा लगाये बिना ही लगानेसे तो अनर्थ है और अपेक्षा लेकर ही लगानेमे तो रंचभी पीछे न हटो। सब नयोंके रसोंका स्वाद लिया जाय, सब नयोंका प्रयोजन अपने आपके स्वभावकी ओर पहुँचाना है, इसलिए जिस नयसे जो बात कही जाती है अपनेको उस समय उस नय वालाही बना लेना चाहिये तब कहीं विवाद नजर न आयगा। और जिसका आशय अच्छा है। अभिप्राय निष्पक्ष है उसको तो किसी नयसे भी बाधा नहीं होती।

नय प्रकरणका प्रयोजन—ये रागादिक विकार आत्माके स्वभावसे होते हैं क्या ?, क्या ये रागादिक विकार निमित्तके सन्निधान बिना होते हैं ? नहीं होते हैं ठीक है, नैमित्तिक है मगर निमित्त नैमित्तिक गाकर हम किसी प्रयोजन पर तो पहुँचे कि केवल पर दृष्टिही रख करके हम अपना समय गुजारें यह ज्ञान इसलिए है कि तुम यह जानोकि रागादिक भाव आत्माके स्वभाव नहीं हैं, ये नैमित्तिक हैं पर उपाधिके होने पर होते हैं, पर उपाधिके न होने पर नहीं होते हैं। इस कथनने स्वभावपर पहुचाया है। न कि निमित्तके गीत गानेको कहा यहा बहुत समयसे यह चर्चा चली आ रही है कि न मैं दूसरेको जिलाता हूँ, न मारता हू, न दु खी करता हूँ, न सुखी करता हूँ, और न कोई मुझको दु खी करता है, न सुखी करता है, न जिलाता है, न मारता है। यह सब, इस दृष्टिसे चल रहा है कि लोग आश्रयभूत पदार्थोंको निमित्त मान लेते हैं और कर्तामान लेते हैं, परको परका कर्तामानलेना भला आशय नहीं है, क्योंकि इसमे स्वरूपकी सत्ताही नष्ट होती है। कोई किसीमे अपना परिणमन डाल दे तो स्वरूप रहाही फिर क्या ?

अपनेही परिणमनका अपनेमें ही उदय अपनेमें ही विलय—भैया ! तुम्हारे

व्यवहारमें भी ऐसी पचासों घटनायें आती हैं सुबहसे शाम तक, जिनमें ऐसा भाव होनेको होता है कि दे वो मुझे इसने यों कहा, इसने मुझको यों किया, यह मेरे लिए ऐसी चेष्टा कर रहा है, यह मुझे दुःखी करना चाहताहै, यह मुझे धोखा देना चाहता है, यह मेरा विनाश करना चाहता है, पचासों घटनाएं आती हैं, किन्तु ज्ञानीका ज्ञानतो यह है कि वहाँ यह जान सकता है कि उसने अपने आपमें अपना कषाय परिणमन किया। इच्छाका प्रयत्न किया इतना कामतो इसका है, इसके आगे इसका काम नहीं है। इसके आगे यदि मे बुरा मानता हूँ, सुखी होता हूँ तो वह मेरीही मूर्खता है मैं ही अपने विकल्पसे अपने आपको संकटोंमें डालने वाला हूँ। यह ज्ञान एक संतोषका सागर है। यहासे खूब संतोषका पान करते रहिए। जितनीही विविक्तिकी दृष्टि होगी, सर्व पदार्थोंसे अलग हटोगे, सबसे निराले केवल अपने आपके स्वभावकी दृष्टि होंगी उतना समझो कि अपनेको संतोष होगा। तृप्ति होगी, शरण मिलेगी, शांति मिलेगी, सारी बातें जो उत्तम हैं सिद्ध होंगी।

किसीका सुख दुःख अन्यके द्वारा किया जाना अशक्य—जीवकी सुख और दुःख दोनोंही अवस्थायें उनके अपने-अपने कर्मोंके उदयसे होती हैं यदि उनके वैसे कर्मोंका उदय न हो तो सुख और दुःख किया जाना अशक्य है। उनका कर्म कोई दूसरा जीव नहीं दे सकता है। किसीके द्वारा किसी दूसरे जीवको कर्म दिए नहीं जा सकते इस कारण तुमने दूसरेको सुखी दुःखी किया यह कहना कैसे युक्तहो सकता है? जीवको कर्म अपने अपने परिणामों से अर्जित होते हैं। किसीके कर्मोंको कोई दूसरा कर नहीं सकता। निमित्तभी सुख और दुःखमें कर्म होते हैं दूसरा जीव नहीं होता है। दूसरा जीव तो उसके कर्मके उदय में नोकर्म होता है, इसलिए किसीभी प्रकारसे कोई किसी को सुखी दुखी करे यह बात नहीं हो सकती है।

अज्ञान पूर्ण विचार—जो बात नहीं हो सकती है वैसी कल्पना बनानासो ही तो अज्ञान है। जैसे शरीर आत्मा नहीं है किन्तु यह मैं आत्मा हूँ, ऐसे शरीरके प्रति कल्पना बनाई तो यही अज्ञान हुआ। जगतमें कोई पदार्थ मेरा नहीं है सर्व पर सत् हैं। धन वैभव चेतन अचेतन मित्रजन परिग्रह सब मेरेको असत् हैं, पर सत् हैं। जबवे पर सत् हैं फिरभी उनको अपना मानना कि यह धन वैभव मेरा है, यही तो अज्ञान कहलाता है। इसी तरह मैं दूसरे को सुख दुःख दे ही नहीं सकता क्योंकि सुख दुःख एक उनका परिणमन है। वह परिणमन उनके गुणोंके विकारसे उत्पन्न होता है और उस कालमें उनका कर्मोदय निमित्त है। न मैं निमित्तभी हूँ दूसरेके सुख दुखका और न

मैं उपादानभी हूँ। इसलिए मैं दूसरेको सुखी दुःखी करता नहीं और फिरभी ऐसा मानूं कि मैं दूसरेको सुखी दुःखी करता हूँ तो यह अज्ञान परिणामही तो हुआ।

किसीके सुख दुखका अन्यजीवकी चेष्टाके साथ अन्वय व्यतिरेकका अभावः- भैया! सर्वत्र देखलो तीनों लोकमे जहाँ जो जीव है, जो संसारी प्राणी है। वह अपने-अपने ही कर्मों के उदयसे जीता है, मरता है, दुःख पाता है, सुख पाता है। पुराणोंको पढकर देखलो। आजकल ही सब जीवोंकी प्रवृत्तियों को देखलो। कोई दूसरेको कितना ही उद्यम करे कि यह खूब सुखी रहे पर नहीं रह सकता है। कोई दूसरेको दुःखी करनेका परिणाम बनाए, यत्न भी करे पर दूसरा दुःखी नहीं होता है। तुम तो करने वाले तब कहलावोगे कि तुम्हारे करने से हो ही जाय। कभी हुआ, कभी न हुआ। तो करने वाले तो नहीं कहलाए। कभी बन गया कभी न बना जब बन गया तब भी तुम इसमें कारण नहीं हो तुम किसीको दुःख पहुंचावो और वह दुःखी हो ही जाय ऐसा नियम तो नहीं है ना, दूसरेका दुःखी होना उसके परिणाम पर निर्भर है।

परकर्तृत्वकी बुद्धिकी अज्ञानरूपताः—लोकमें जोभी प्राणी मरण करते हैं। वे अपनी आयुकी क्षयसे करते हैं और जीवित रहते हैं तो अपनी आयुकर्म के उदयसे। जो यह सुख देखा जाता है वह मोहनीयके सहयोगको पाकर वेद नीय कर्मों के उदयसे होता है और जो दुःख देखा जाता है वह भी इसी तरह वेदनीयके उदयसे होता है। यह बात बिल्कुल निश्चित है। इस निर्णयमें कहीं भंग होता हो तो दिखावो। क्या किसी प्राणीको कर्मो के उदय बिना भी दुःखी देखा है? ये सुख दुःख बिना कर्मोके आये हुए क्या किसीको हुए भी हैं? जब कर्मोके निमित्त बिना जीवन, सुख, दुःख होते ही नहीं हैं और तेरे बिना हो जाते हैं अर्थात् तू किसीको सुखी या दुःखी करे ऐसा है ही नहीं तेरे प्रयत्नके कारण दूसरे दुःखी सुखी नहीं होते फिरभी ऐसा परिणाम बनाते हैं कि मैं दूसरेको सुखी दुःखी करता हूँ या दूसरेके द्वारा सुखी दुःखी किया जाता हूँ। यह निश्चय अज्ञान है।

जीवविकारमें अन्य जीवके निमित्तत्वका अभावः—कोई दूसरा किसी दूसरे के मरण, जीवन, सुख और दुःखको उत्पन्न नहीं कर सकता यहा वस्तुगत स्वरूप कहा जा रहा है। यों तो व्यवहारमे ऐसा ही लगता है कि वह माता बच्चेको कैसा सुखी रखती है। अथवा दुश्मन दूसरे दुश्मनपर कैसी क्रूरता कर हमलाकर मार डालता है। परन्तुतत्त्वकी बात देखो तो एक अजीव

पदार्थका दूसरा अजीव पदार्थ निमित्त होता है और जीव पदार्थके विकारमें अजीव पदार्थ निमित्त होता है और अजीव पदार्थ के विकारमें जीव पदार्थ निमित्त होता है किन्तु जीव पदार्थकी किसी परिणतिमे दूसरा जीव निमित्त नहीं होता अन्यजीवोंको निमित्त कहनेकी रूढ़ि है उसका आश्रयभूत तो कह सकते हैं। निमित्त नहीं कहा करते हैं।

आश्रय और निमित्तका यथास्थान प्रयोग:–भैया! कुछ तो विवाद इसलिये भी बढ़ गया कि निमित्त उत्पादानकी चर्चाके प्रसंगमे निमित्तके। भी निमित्त शब्दोंसे कहना और आश्रयभूत पदार्थको भी निमित्त शब्दोंसे कहना। यह दिशा स्पष्ट रहे बोधमे कि निमित्त वह कहलाता है जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक हो जो निमित्त का सहायक न हो अर्थात् जिसका योग होनेपर कर्म निमित्त हो सके वह नो कर्म हुए। आश्रयभूत को (नोकर्म) भी निमित्त कह डालना और निमित्त को भी निमित्त कह डालना ऐसी प्रक्रिया प्रयोगहोनेपर किसी बातका रखना फिट नहीं बैठ पाता। जितने भी जगतके प्राणी हैं उनके सुख दुःख उपादानसे तो उनकी योग्यता से होते हैं। उस परिणमन को कोई दूसरा पदार्थ नहीं करता है। निमित्त भूत पदार्थ भी उनका परिणमन नहीं करता पर कोई भी विकार पदार्थमें स्वभावतः नहीं हुआ करता। उपादान विकार रूप परिणमता है तो किसी पर उपाधि का निमित्त पाकर ही परिणमता है। किसी पदार्थको ऐसी अटक नहीं पड़ी है कि मै अब अगले समयमे इस रूपही परिणमूंगा जिससे यह शंका की जाय कि निमित्त नहीं मिला तो परिणमन रुक जायगा। उसे अटक ही नहीं है। जो मिलेगा उसके अनुकूल परिणम जायगा जो भी परिणमे प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात है इसमें वह नियत है।

परिणतिकी सर्वत्र स्वतन्त्रता—उपादानमें तो परिणमनका स्वभाव पड़ा है और चूंकि वह विकार रूप परिणमनकी योग्यता रख रहा है सो उसमें अनेक प्रकार अनेक विकारोंरूपसे परिणमनेकी योग्यता है अब जैसा निमित्त मिला उसको पाकर यह उपादान अपनी परिणतिसे अपनी परिणतिमें स्वतंत्र होता हुआ परिणमता है। स्वतंत्र होना हुआ परिणमनेका अर्थ यहां यह है कि अब परिणमन नामक क्रियामें वह किसीकी अपेक्षा नहीं करता अर्थात जैसे मृदंगमें हाथके द्वारा पीटे जाने पर जो शब्दरूप परिणमन हुआ सो मृदंग के शब्दरूप परिणत होनेकी स्थितिमें मृदंग को किसी पदार्थकी अपेक्षा नहीं हुई। यह बहुत सूक्ष्म दृष्टिकी बात है कि निमित्त होकर भी उपादान अपनी परिणतिसे परिणमते हुएकी क्रियामें स्वतन्त्र है,

परिणमीयता अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है। निमित्तके सन्निधान बिना होता नहीं और फिरभी उपादान अपनी परिणतिसे परिणमन की क्रियामें परकी अपेक्षा नहीं रखता। पदार्थोंके परिणमनमें स्वतंत्रता और वह पदार्थ विकाररूप परिणमने की योग्यता रखते हुए अपना निमित्त पाकर विकार रूप परिणमता है सो देखते जावो।

निमित्त पाकरही उपादानसे अपने आपमें ऐसा विकाररूप प्रभाव उत्पन्न किया, विकार उत्पन्न किया यह भी ठीक है मगर परिणमन रूपजो किया है उस परिणमन क्रियामें अपेक्षा नहीं है। इसका अर्थ यह है कि किसी दूसरे पदार्थके परिणमनको ग्रहण करके या दूसरे पदार्थके आधे परिणमनको लेकर उपादान परिणमन बनाता हो ऐसा नहीं है। निमित्त नैमित्तिक सम्बध का यह भाव है कि विकाररूप परिणमने वाला उपादान किसी निमित्तको पाकर अपनेमें ऐसा विकार बनायाकरता है, यह बात दिखाने वाला निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। पर प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप चतुष्टयसे ही सत् है। दूसरेके स्वरूप चतुष्टयसे सत् नहीं है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करनेके बाद फलमें यह ग्रहण करना चाहिए कि विकार हुआ है तो यह वस्तुके स्वभावसे नहीं हुआ वस्तु अखण्ड परमपारिणामिकभावस्वरूप है।

निमित्तने विकार किया मानने पर मोक्षमार्गका अभाव—अच्छा भैया! परिणतिसे मानलो हुआही नहीं कार्य उपादानकी निमित्तकी परिणतिसे विकार हो गया तो इस मान्यतामें मोक्षका मार्ग नहीं मिलता है और स्वभावसे हो गया विकार तो भी मोक्षका मार्ग नहीं मिलता है। निमित्तने विकार किया इस दृष्टिमें भी मोक्षमार्ग नहीं है और जीवने अपने आप विकार किया स्वभावसे, इस दृष्टिमें भी मोक्षमार्ग नहीं मिलता निमित्त परमें विकार किया करे तो जैसे ईश्वरको सृष्टि कर्ता माने तो वे जीव परवशहो गये, वह चाहे तो मुक्ति दिलाए। अथवा उन लौकिक जनोंकी दृष्टिमें मुक्तिभी क्या है। जब वे उस जीवके स्वयंका परिणमन नहीं मानते कि मुक्तिरूप परिणमनभो यह जीव स्वयं करता है, चाहे ईश्वर दिलाए तोभी। इतनीभी दृष्टि जब लौकिक जनोंकी नहीं है तो अब मुक्तिमें कोई जीवका वंश नहीं रहा। ईश्वरकी मर्जीहो तब तक मुक्त बनाए रहे और जब मर्जीहो तब ढकेल दें। ईश्वर खेला करता है। इस प्रकार उपादान स्वयंकी परिणतिसे विकार रूप न परिणमे निमित्तही परिणमाये तो वहां परभी मुक्तिका अवसर नहीं है वह करायेगा तो हो जायगी, अथवा इस दृष्टिमें जब मैं ही स्वयं मुक्तिरूप नहीं परिणमू, कैवल्यरूप नहीं होऊं, तब वहा हुआ क्या? ऐसी दृष्टिमें अपना कुछ हितही, सत्वही उसमें नहीं मिला, एक बात।

स्वभावसे विकार हुआ मानने पर मोक्षमार्गका अभाव—दूसरी बात-यदि यह कहा जाय कि उपादान स्वय परिणमता जाता है, उसमें पर्याय सब बंधी भई हैं। अपने नम्बर पर अपनी अपनी पर्यायको ग्रहण करता जाता है। निमित्त शब्दतो पहिलेसे लिखा चला आ रहा है इससे बोलना पड़ताहै कि उस पर आरोप किया जाता है—तो ऐसी स्थितिमे भी मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता, क्योंकि जीवमें तो पर्यायें बंधी हुई होती हैं उनके नम्बर पर उसमें यह विकार करना इतनाही काम है सो कर रहे हैं। वहा यह दृष्टि नहीं जगी कि विकारमे नहीं हूँ। विकार मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे अंत' स्वरूपमें से विकाररूप परिणमनका भवर नही उठता है किन्तु ऐसा यह परिणम सकता है। इसमे वैभाविकी शक्ति है पर उपाधिका सन्निधान होने पर ऐसा परिणमन बनता है। यह यदि दृष्टिमें न रहा, स्वरसत' परिणमता चला जाता है तो ऐसी दृष्टिमें अस्वभाव कुछ नहीं रहा तब मुक्तिभी कुछ नहीं है और हो तो धोखा ही रहेगा।

विकारको परभावकी सिद्धिमें क्लेश—उक्त दृष्टिमे पर भाव सिद्ध करनेके लिए निमित्तको मानाभी जाय तो वहाँ निमित्तका वही दर्जा आ पाता है जो आश्रयभूतका स्वरूप होता है। तभी तो उस एकात दृष्टिमें यह देखा जाता है कि यह जीव अपनेसे च्युत होकर निमित्तमे जुड़े तो निमित्तहोता हैं। अरे निमित्तको किसीने आंखो देखाभी है कि यह उसका कर्म है, यह उदयमे आ रहा है, मैं इसमे जुड़ जाऊं, ऐसा तो किसीको विदित नहीं है। किन्तु उदय होने पर विकार हो जाता है। आगका हमे पताहो अथवा न हो, वहा हाथ पड़े तो वह जल जाता है हमे निमित्त रूप कर्मोका कहा पता है। हम आगम से और युक्तिसे कुछ जानने लगते हैं। तो हमसे अच्छे वे लोग हुए जो कर्मो को जानतेही नही हैं। जब उन्हें पताही नहीं है कि ये कर्म हैं तो वे जुड़ेगे कैसे वे तो बड़े सुखमें रहेंगे। सो ऐसा तो नहीं है।

विकार्य उपादानकी योग्यता:—विकार्य जीव उपाधिकी सन्निधिमे विकार-रूप परिणमता है तो वहां निमित्त होकर भी यह उपादान अपनी परिणतिसे परिणमता है। अर्थात् निमित्तकी परिणति लेकर नहीं परिणमता। निमित्त की उपयोगिता यह है कि विकारके उदयके लिये उपादानमें ऐसी ही बात पड़ी है, कला है, योग्यता है कि यह योग्य अनेक विकारों रूप परिणम सकने वाला तो है। अब वह उस सीमामे जैसे सन्निधानका निमित्त पायेगा उस रूप यह विकार रूप परिणम जायगा, पर निमित्तने अपने प्रदेश से उठकर इस उपादानमें कुछ क्रिया नहीं की यह बात बिल्कुल स्पष्ट दिखती है।

परिणमनस्वातन्त्र्यपर दर्पणका दृष्टान्त:—जैसे दर्पण है, उस दर्पणके सामने मानलो एक पिछी रंग बिरंगी करदी तो दर्पण उस छायारूप परिणम गया, अथवा पिछीतो सामने नहीं थी, वह केवल धरी थी और यह दर्पण सामने रखा है या रख दिया है तो दर्पण में भी रंग बिरंगा परिणमन हो गया। अब यह देखो कि रंग बिरंगे परिणमन रूप क्रियामें पिछीने कुछ कला नहीं खेली बल्कि दर्पणने अपनी ही योग्यताके कारण पिछीका निमित्त पाकर अपने आपमें इस प्रकारके छाया रूपसे परिणमनेकी कला बनायी। यहाँ वस्तुके स्वरूप चतुष्टयका विघात न हो इसका सदैव ध्यान रखना है और फिर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धको पहिचानना है।

निमित्तकी उपयोगिता:—तो जैसे यह दर्पण अपनी योग्यताके कारण पिछीका नि त्तपाकर सन्निधान पाकर अपनी ही कलासे चूंकि उस तरहका परिणमन कर सकनेकी कलापड़ी है ना, जो भींट वगैरहमें नहीं पड़ी है सो उसकी कलासे पर उपाधिके सन्निधानको पाकर यह दपण खुद छायारूप परिणमगया इसीप्रकार प्रत्येक उपादान जो विकार रूप परिणमसकने की योग्यता रखता है वह अनेक निमित्तोंको पाकर स्वय अकेले अपनी ही परिणति से उस विकाररूप परिणम जाता है। यह उपादानकी कला है, और वह उपादान इस विकाररूप पर निमित्तका सन्निधान पाये बिना परिणमा नहीं इसलिये निमित्त की सन्निधिकी उपयोगिता हो गई, निमित्तकी कोई परिणति उस दर्पणमें घुसी हो तो यह नहीं होता।

सानिध्यमें भी परिणमनस्वातन्त्र्य:—जैसे हम अपना मुख दर्पणमें देखते हैं तो दर्पण जो छायारूप परिणम गया सो दर्पण अपनी कलासे परिणमगया पर ऐसा उसका परिणमना मुखकी सन्निधि बिना नहीं हुआ। उस दर्पणके कुछ अटकी भी नहीं है कि मैं मुखकी छायारूप परिणम जाऊं पर सहज जैसा निमित्तका मेल होता वैसाही यह उपादान अपनी कलासे परिणम जाता। तो यह तो एक निकटकी चर्चा है पर दुनिया तो आश्रयभूत पदार्थोंमें ही उलझी हुई है। आश्रयभूत पदार्थोंमें निमित्त मानकर फिर उसमें जोर दें यह बहुत नीचेस्टेजकी कलाका ज्ञान है।

कार्यका आश्रयभूत पदार्थके साथ साथ अन्वयव्यतिरेकका अभाव:—कोई जीव किसीदूसरे जीवको सुख अथवा दुःख उत्पन्न नहीं करता। दूसरेके सुख दुःखमें निमित्तभी नहीं होता है निमित्त वहाँ कर्मोदयहै। इतनेपरभी पर जीवके सुख दुःख जीवन मरणका अपनेको कर्त्ता मानना यह ध्रुव अज्ञान है। निमित्तके ही साथ तो कार्यका अन्वय व्यतिरेक होता है पर कार्यकेसाथ

भाव आश्रयका अन्वयव्यतिरेक नहीं होता है। जैसे सुन्दर फोटो लगी है। एक साधु उसको देखकर विकारको नहीं प्राप्त होता है और एक अज्ञानी मोही उसको देखकर विकार भाव करता है तो यह फोटो विकारका निमित्त नहीं है। विकार निमित्त होता तो जैसे इस मोहीने विकार भाव किया वैसा ही विकार भाव उस साधुको भी करना चाहिए था। फिर ऐसा नहीं हुआ।

कार्यका निमित्तके साथ अन्वयव्यतिरेक--वे जो दोनों जीव हैं—मोही और ज्ञानी उसके साथ उनके ढंगके कार्मोका उदय पड़ा हुआ है। मोहीमें मोहीके ढगका उदय है, और ज्ञानीमें ज्ञानीके ढगका उदय है। ज्ञानी उपेक्षा रूप परिणम रहा है और वह मोही अन्य कल्पनाओं रूप परिणम रहा है। देखो अज्ञानी जीव ऐसे फोटोको देखकर फैसा व्यर्थमें अपना परिणाम बिगाड़ रहा है? कुछ भी कल्पना जो अज्ञानीमें उठी वह उसको कर्मोदयका निमित्त पाकर परिणमनमें निमित्त है, पर जिस प्रकारका अज्ञानीका कर्मोदय है उसके ही लायक वह नोकर्म बन गया।

आश्रयभूतकी अनियामकता—जैसे किसी दूकानपर बैठे-बैठे ही आप छाता भूल गए और चल दिये। मार्गमें दूसरेका छाता लगा हुआ दिख गया तो उस छातेको देखकर आपको अपने छातेका ख्याल आ गया तो यह बतलाओ कि उस छातेने आपमें क्या पैदा किया? वह तो अपनी जगहसे रंच भी नहीं उठा। क्या उस छातेकी कोई किरण आपमें घुस गई? क्या किया उस छातेने, सो बतलाओ वह छाता तो अपनी ही जगह पर रखा हुआ है कुछ भी तो बात उससे नहीं आई, लेकिन उसको देखकर जो ख्याल बन गया उस ख्याल बननेका अंतरङ्गमें जो उदय है वह तो है निमित्त और छातेका दिख जाना है वह आश्रयभूत। क्या छातेका यह काम है कि हर एकमें जिसका छाता गुम जाय उसके अन्दर चोट लगाये? क्या यह कोई उस छातेका काम है वह तो जो जिसमें उपादान है, जो जिसमें जैसा परिणाम है वह उस योग्यताके अनुकूल अपना काम कर देता है। यहां अन्य पदार्थ आश्रयभूत हो गया।

वस्तुस्वातंत्र्यकी दृष्टिका आदर--भैया! वस्तुस्वातंत्र्यकी उपेक्षा करके निमित्त दृष्टि करना योग्य नहीं है। जान लो ठीक है, अपने जीवनका लक्ष्य बनाओ ज्ञान करनेके लिये। मैं उस विविक्त आत्मतत्त्वको निरखूँ यह काम है अपने करनेका उसका तो ज्ञान कर लिये। हां, उस निमित्त-नैमित्तिक सम्बंधका विरोध करनेसे हानि यह है कि विकार स्वभाव जैसे मान बैठे तो जीवको यह उत्साह न जगेगा कि मैं प्रभु जैसा शूर हूं किन्तु

विकारमें ही रमेगा, इसलिए निमित्त सम्बंधका ज्ञान तो कर लिया करो, मगर सब प्रयत्न करके स्वभाव दृष्टिमें उतरो जहां तक बने—यही अपना काम है।

अज्ञानसे चिकीर्षा व आत्महनन—जो जीव दूसरे जीवसे जीवका मरण जीवन सुख दुःख होना देखता है वह जीव अज्ञानी है और इस अज्ञान परिणामको रखकर अहंकारके रससे गर्भित होता हुआ इस कार्यको करने की इच्छा करता है। जिसे यह अज्ञान लगा है कि मैं दूसरेको दुःखी करता हू तो वह दुःखी करने की इच्छा करता रहेगा। ये सुख दुःखके कर्तृत्व भाव मोह क्षोभको उत्पन्न करने वाले हैं। मरण जीवनमें दूसरेका करता हू ऐसा परिणाम रखूँगा तो जिसपर राग है उसको मैं पालनेका यत्न करूँगा, इच्छा करूँगा, श्रम करूँगा। जिससे द्वेष है उसको मारनेका यत्न करूँगा, श्रम करूंगा, इच्छा करूंगा। तो इस प्रकार चिकीर्षक होकर वह मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपका ही घात करता है। अज्ञान परिणाम किया तो किसी दूसरेका घात नहीं किया अपना ही वह निरन्तर घात करता रहता है। यह आत्मा आत्मवधकारी है वस्तुके स्वरूपके अनुसार अपनी दृष्टि बनाए सो तो अपने आपकी रक्षा है और स्वरूपके विपरीत परबुद्धि बनाना कर्तृत्व बुद्धि बनाना यह आत्मघात है।

निज चैतन्य स्वभावकी रुचिसे मोक्ष मार्गका निर्णय—भैया! एक बात और अपने हितके लिए ध्यानमें रखो कि दो प्रकारके ज्ञान हैं–एक तो ऐसा कि अन्य पदार्थका निमित्त पाकर अन्यमें विकार हुआ यह चीज गलत नहीं है, सही है और यह भी सही है कि उस दशामें भी प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपका परिणमन करता है। कोई पदार्थ किसी दूसरेका परिणमन नहीं करता है, यह भी सही है क्यों जी, सही है ना? ये दोनों ही बातें सही हैं। ऐसा जानकर फिर परद्रव्य और परभावसे भिन्न निज चैतन्य स्वभावकी भावना होती है तो समझो कि हमको धर्ममें रुचि जगी है और मोक्ष मार्गमें बढ़ने लायक भवितव्य हुआ है और निमित्तोंको देखनेकी ही रुचि रहे, देखो हमने इसका कुछ किया ना, यह हमने ही तो किया, यदि ऐसी भावना रही तो समझो कि अभी हमारी निजकी अरुचि है तथा मोक्ष मार्गमें बढ़ने लायक पात्रता अभी नहीं है।

उपदेशका प्रयोजन—अन्तरङ्गमें आपकी रुचि किस ओर है? वस्तुकी स्वतन्त्रता देखनेकी रुचि है या द्वन्द्व और सम्बन्धके देखने बोलनेकी रुचि है। इनमें से आपकी जैसी रुचि होगी वैसी दृष्टि बनेगी। मोक्ष मार्गको

सृष्टि या संसारकी सृष्टि, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके उपदेशका भी प्रयोजन आचार्योंका स्वतंत्र अखंड स्वरूपके दर्शन करानेका है। बाह्य वस्तुओंमें उपयोग करनेका आचार्योंका उपदेश नहीं होता। आचार्योंका उपदेश परवस्तुओंसे दृष्टि छुड़ाकर केवल एक निज आत्माकी दृष्टि करनेके लिए है। जो जीव श्रद्धामें ही यह रखे हों कि मैं दूसरेका जीवन मरण, सुख, दु:ख किया करता हूं, तो वह तो अज्ञान है, और इस अज्ञान भावके कारण निरंतर परवस्तुमें कुछ न कुछ करनेके लिए कमर कसे रहता है। कर कुछ नहीं सकता है, मगर अपना शौक और इच्छा परमें कुछ करनेके लिए बढाये रहता है। ऐसी स्थितिमें यह जीव आत्मवधकारी है, अपने आपका घात करने वाला है। इसीको स्पष्ट करनेके लिए पुनरपि दो गाथायें कह रहे हैं।

जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदिण्णहु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदिणय दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छ ॥२५८॥

जो मारता है और जो दु:खी होता है वह सब कर्मोदयसे होता है इसलिए जो यह अभिप्राय है मैंने मारा, मैंने दु:खी किया, यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या है। यहां निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध बता रहे हैं। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीव दु:खी होता है, और ऐसी स्थितिमें क्या यह बात नहीं है कि कर्मोंका जो परिणमन है वह कार्योंमें ही रहा है, कर्मोंका जीवमें कुछ नहीं गया, जीवका कर्मोंमें कुछ नहीं गया। ये दो साथमें बातें हैं, तो दोनोंका ज्ञान करके दोनोंको सही जान करके हमारी रुचि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध देखनेके लिए जगती है या परपदार्थोंकी उस उसके परिणमनको देखते रहनेमें रहती है? हमारी रुचि स्वतंत्रताकी होना चाहिये। ज्ञानके लिए सर्व ज्ञान करना।

कैवल्यकी प्राप्तिके लिए केवलका ज्ञान आवश्यक-भैया! अब हमें केवल बनना है; खालिस बनना है, शुद्ध बनना है तो हम अब भी खालिसकी केवल श्रद्धा न करें, रुचि न करें और ऐसी दृष्टि रखनेका यत्न न करें तो केवली होना कैसे सम्भव होगा? यहाँ जीव परजीवोंको अपने सुख दु:ख का कारण मानकर भयभीत और कायर होते हैं और अपने आपको दूसरे के सुख दु:खका कर्ता मानकर अहंकार रसमें डूबा करते हैं। उस अहंकार भावकको और उस कायरताके परिणामको मिटानेके लिए यह प्रकरण चल

रहा है कि तू इनका निमित्त नहीं है, इनके निमित्त कर्मोंके उदय हैं। तू खुद अपने अपने आपमें इन परजीवोंके सुख दुःख जन्म मरणका निमित्त मानकर अहंकारमें डूब रहा है कि मैंने यों किया अमुकमें। अपने कर्तव्य का अहंकार दूर कर अपने को केवल देखनेका यत्न करो।

कर्तृत्वके आशयमें ध्यानका लाभ—इसी प्रकार यह भी यहाँ देखो जो नहीं मरता है, नहीं दुखी होता है वह उसके उस प्रकारके कर्मोदयसे होता है इसलिए तेरा यह अभिप्राय कि मेरे द्वारा मारा नहीं गया और न दुःखी किया गया, ऐसा भी अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? अर्थात् मैंने मारा, जिलाया, दुखी किया, सुखी किया यह भी मिथ्यात्वका परिणाम है और दूसरेके द्वारा मैं मारा गया, जिलाया गया, दुःखी किया गया, सुखी किया गया, यह भी मिथ्यात्व परिणाम है। मैंने नहीं मारा, मैंने नहीं दुखी किया, यह कर्तव्यके आशयसे किया गया निषेध भी मिथ्या परिणाम है तो यह दूसरे जीवको दुःखी तो कर सकता नहीं, न मरण कर सकता, किन्तु केवल अपध्यान ही करता है। जैसे पड़ौसियोंमें जब लड़ाई हो जाती है तो एक पड़ौसी दूसरेको कुछ कर तो सकता नहीं अपने ही घरमें बैठा हुआ अपध्यान करता रहता है—इसका यों हो जाय, नाश हो जाय, अमुक हो जाय। तो वह केवल अपने अपध्यानका करने वाला है, किन्तु इस दूसरे पदार्थमें उसने कुछ परिणमन किया नहीं।

किसीके विचारके कारण परके परिणमनका अभाव—क्या किसीका नाश सोचने से दूसरेका नाश हो जाता है ? क्या किसीका भला सोचने से भला हो जाता है ? हां यह बात अवश्य है कि भला सोचनेके भावके निमित्तसे पुण्य कर्मका बंध होता है और बुरा करने के भावके निमित्तसे पाप कर्मका बंध होता है, पर भला सोचनेसे दूसरेका भला हो जाय, यह नहीं होता। हो भी जाय तो यह होना ही था। जिस समय यह भला सोच रहा था उसी समय उसका भला होनेको था, पर इसके भला सोचने रूप क्रियाके निमित्तसे दूसरेमें भला परिणमन हो जाय यह बात नहीं होती। इसी तरह कोई किसीका बुरा सोच रहा हो और उसी काल बुरा हो जाय तो हो गया ऐसा दोनों जगह परिणमन होने को था, पर इसने बुरा सोचा इस कारणसे उसका बुरा हुआ यह बात सही नहीं है।

अपध्यानमें आत्मविकासका अभाव—परमार्थतः तो ये सब परके कर्तृत्व के विचार अपध्यान कहलाते हैं। अज्ञान भावमें तो अपध्यान चलता ही रहता है क्योंकि कुछ भी सोचे यह कर्तव्य अंशको लिए हुए सोचेगा और

दूसरे को भला करनेका जो अहंकार है और वस्तुकी स्वतन्त्रताका विघात करके मैं कुछ कर दूगा, ऐसे कतृत्वका जो आशय है वह अपने आपका निरन्तर घात ही कर रहा है। अपने शुद्ध विकासको उठाने नहीं देता विकास नहीं होने देता, अपनी प्रभुताको कुन्द बनए रहती है जो ऐसा देखता है वह मिथ्यादृष्टि जीव है। मिथ्यादृष्टि जीवके यह अध्यवसाय बंध का कारण होता है क्योंकि उसे विपर्यास हो गया। खबर ही नहीं है। जब अपना स्मरण ही नहीं, शुद्ध बोध ही नहीं है तब यह अपने आपका विकास क्या करे ?

लोकविद्याका श्रम परमार्थ विकासका अकारण—भैया ! आत्माका विकास तो यह है कि ज्ञान बढ़े और आनन्द बढ़े, जीवका विकास और क्या कहलाता है ज्ञान बढे और आनन्द बढे, जीवका ज्ञान कब बढेगा और आनन्द कब बढेगा इतना आप निर्णय कर लीजिए। लौकिक विद्यावोंके पढ़नेसे लिखनेसे स्कूली शिक्षासे मास्टरसे पढ़नेसे देखा जाता है कि विद्या आती है, किन्तु भीतरमें विद्याकी यदि लब्धि है क्षयोपक्षम पड़ा हुआ है तो थोड़े बाहिन पदार्थ भी उसके एक आश्रयभूत हो जाते हैं पर बाहरी श्रमसे ज्ञानका विकास नहीं होता। वह तो एक अर्जित निधि थी जो अपने आपमें बढ़ी हुई है उस अर्जित निधिको बाहर लानेका एक उपशम हुआ है तो इस बाहरी उपायसे ज्ञान तो हुआ मगर वह इसलिए सीमाके भीतर ही हो सका कि इन बाहरी श्रमोंका ऐसा प्रताप नहीं है कि ज्ञान एकदम विकसित हो जाय। जो भी ज्ञान विकसित हुआ है वह अर्जित निधान है पूर्व कालमें धर्मदृष्टि रही उस उत्तम बातके कारण यह क्षयोपक्षम बना तो यह अर्जित निधि है। इस कारण इस सीमाको तोड़कर विकास नहीं हो पाया।

स्वकी उन्मुखता परमार्थविकासक कारण—भैया ! सारे विकल्पोंको तो कर अपने आपमें जैसा स्वभाव है उस सहज स्वभावकी दृष्टि करे तो इसका ज्ञान इतना असीम विकसित होगा कि जिसके प्रतापसे जो भी सत है सबका ज्ञान होगा, पर ऐसी बात सुनते सोचते हुएमें विश्वका ज्ञान हो जायगा, ऐसी अगर उत्सुकताकी दृष्टि लक्ष्य हो तो उसने अपने आपका आश्रय नहीं किया। उसके ज्ञान नहीं जगता। यह संसार अथवा इस संसार की समस्त बातें ऐसी हैं कि चाहो तब होती नहीं, होती हैं तब चाहते नहीं। सर्वज्ञ होनेकी कोई चाह करें, यत्न करें तो क्या हो जायेगा ? और जो सर्वज्ञ होगा वह चाह नहीं करता और उससे भी पहिले उसकी चाह नहीं रहती।

सुख कहां ?—भैया ! इस संसारमें सुख है कहां ! जब चाहो तब चीज नहीं, जब चीज है तब चाह नहीं तब आनन्द कहा रहा ? ये कविजन विद्वज्जन और कला कौशल वाले अनेक पुरुष, विद्यावान् अथवा धनिक कोई भी हो, प्रारम्भ अवस्थामें प्राय: इनको यशकी और नामकी वाञ्छा रहती है। जब चाहता है नामका यश और नामका प्रसार, तो हो नहीं पाता यह और जब बुढ़ापा आया कलाएँ प्रगट हो गयीं, गम्भीरता आगयी तो अब यश और नामकी चाह भी नहीं रही, ऐसी स्थितिमें यश भी बढ़े नाम भी बढ़े तो उनका अब यह करे क्या ? जब जब चाह थी तब मिला नहीं, जब मिला तब चाह नहीं रही तो कौन किस बातमें सुखी हो सकता है ? यहां तो सुखका नाम नहीं है। सुख तो मात्र एक आत्मीय अनुभव में है।

सुखका एकमात्र उपाय—भैया ! सुखका उपाय दूसरा नहीं है। पक्का निर्णय रखो कि किसी भी परकी दृष्टि करके मूढ़ता कर रहे हैं। किसी भी परसे सहारा लेनेका आशय बनाना यह तो बहुत बड़ी मूर्खता है। कौनसा कार्य व्यवहारका ऐसा है जो आपके लिए हितकारी हुआ ही करे ? ऐसा तो कोई भी कार्य नहीं दिखता सिवाय इसके कि यह ज्ञानमय स्वरूपको जानता है। केवल एक इस यत्नके अतिरिक्त कोई यत्न ऐसा बाहरमें नहीं है जो इस जीवको सत्य हो, सहकारी हो, हितकारी तो हम व्यवहारमें अच्छा रूप देते हैं पूजाका भक्तिका सत्संगका उन सबका प्रयोजन यही एक है। एक इस प्रयोजनको निकाल दें और करते रहें पूजा भी भक्ति भी सत्संग भी तो ये सब नीरस हो जायेंगे। ये शांतिरसके हेतु नहीं बन सकते।

मूल पुरुषार्थ—अपना मूल प्रयोजन और मूल पुरुषार्थ यही है कि यह आत्मा जो अपने उपयोगको चारों ओर भटका रहा है, दौड़ा रहा है वह भटक, वह उपयोग हमारा समाप्त हो जाय। इसी लिए हम आप सब को कई बार यह कह देते हैं कि ज्ञान करनेको तो सब ज्ञान करलो पर रुचि अपने वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपको देखनेकी लगावो। चीज है, है ऐसा जानलो ये सारे नैमित्तिक विभाव हैं, औपाधिक चीजें हैं, परकी उपाधिका निमित्त पाकर होने वाली बात है पर हम कुछ आगे बढ़ें तो कैसे बढ़ें ? जिसे कहते हैं आत्मविकास शुद्ध आनन्द अनुभव, स्वसम्वेदनका होना, निराकुल अवस्था होना, इसके लिए केवल एक निजको देखो। और केवल एक निज को देखनेकी बात इसमें तब बनेगी जब हमारी आदत परपदार्थोंकी उनके

स्वरूपमें देखनेकी आदत बन जाय तो हम अपने आपको केवल देखनेकी एक वृत्ति बना सकते हैं। इसलिए ज्ञान करनेको तो सब प्रकारका ज्ञान करना चाहिये किन्तु रुचि होना चाहिए परद्रव्योंसे भिन्न स्वके एकत्वमें निश्चित निज आत्मामें।

वस्तु स्वातन्त्र्यके दर्शनका अभ्यास—परद्रव्योंसे भिन्न अपने आत्मद्रव्यमें रुचि उसकी हो सकती है जिसको सभी पदार्थोंमें अन्य-अन्य सम्बन्धोंमें भी उन पदार्थोंको अन्य सबसे भिन्न केवल उनके अपने आपके स्वरूपमें एकत्व रूपसे देखनेकी प्रकृति बन जाय, और ऐसे वस्तु स्वातन्त्र्य की दृष्टिके अभ्यासी पुरुषको पहिले तो यह सारा जगत एक मत्त जैसा अथवा नहीं कर रहा और फिर भी न जाने किसीको दिखानेको कुछ बनावट दिखावट क्या कर रहा, ऐसी दूसरेकी वृत्तिको देखनेकी परिणति होती है।

अनुभवके अनुकूल बाह्यमें दर्शन—जैसे कोई मनुष्य बड़ा दुःखी है, इसका प्रयोग हो जाय तो चूंकि उसके उपयोगमें वही इष्ट है ना, तो वही भरा हुआ है। अब आँखोंसे जब बाहरमें देखेगा तो चाहे कोई बड़े हर्षसे, सुखसे खिलखिला भी रहा हो तो भी उसकी वृत्ति उसे ऐसी नीरस दिखेगी कि है नहीं अन्तरमें सुखी जबरदस्ती होहल्ला कर रहा है। जैसे अपने आपमें अपने आपको देखने की स्थिति होती है उसके अनुरूप उसे बाहरमें अन्य-अन्य भी वैसा ही दिखता है। जैसे आप सुखी हैं, बड़े प्रमोदमें हैं, अनेक काम आपके सिद्ध हुये हैं, तो आपको सब जगह सुखका सा वातावरण दिखेगा, और कदाचित् कोई रोता हुआ आप देखेंगे तो भी आप यह अच्छी प्रकार न जान पायेंगे कि इसके अन्तरमें पीड़ा है। और ऐसी पीड़ा है कि जिस पीड़ासे अत्यन्त आक्रन्दन कर रहा है किन्तु कुछ ऐसा ही प्रतीत होगा, रोता है, अथवा कुछ दिखाने को रोना पड़ता है। जैसी अपनी अन्तरमें दृष्टि होती है उसके अनुरूप यथासम्भव जहां तक खिंच सकता है बाहरमें भी वैसा ही दिखा करता है।

स्वरूप दर्शनाभ्यस्तका बाह्य अवलोकन—तो जिसको अपने स्वभावके देखनेका अभ्यास दृढ हो गया है उसे पहिले तो यह सारा जगत मत्त जैसा कुछ न करता हुआ भी जैसा दीखता है। क्या कर रहा है? क्या तो स्वरूप है, कैसी विपरीतता है, उन्मत्तता है? इसी तरहका दिखता है, पश्चात् उसे सब स्तब्ध दीखता है। यह अभ्यासकी बात है, इसी तरह यद्यपि बाहरमें सब कुछ है, सम्बन्ध है, निमित्त नैमित्तिक भाव है, सर्व

कुछ है और सर्व कुछ जैसा है, वैसा कहें भी, बतायें भी, सुनें भी, इतने पर भी रुचि रहना चाहिए प्रत्येक वस्तुके निजस्वरूप चतुष्टयको निरखनेकी।

वस्तुस्वातन्त्र्यकी प्रतीतिकी रक्षा—कुछ ऐसी ही बात हो जाती है कि कोई दूसरा यदि वस्तुकी स्वतंत्रताका प्रतिपादन निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का निषेध करता है तो उसके मुकाबले अथवा उसको खण्डन करनेकी दृष्टि से अधिकतर उपयोग एक सम्बन्ध मण्डन पर रहता है, पर अपने आपको मोक्षमार्गमें ले जाना है, अपने को सुरक्षित रखना है, इस विनश्वर नरजीवनसे कुछ लाभ उठाना है, ऐसे पाये हुए श्रेष्ठ धर्म समागमसे कुछ स्थिर लाभ लेना है तो इतनी रुचि जगना चाहिये वस्तुके उस स्वचतुष्टयको स्वतंत्र स्वरूपको निहारनेकी कि उसकी प्रतीति न मिट जाय।

अपनेमें ज्ञानमयताको निरख—कोई जीव अपने आपमें और परपदार्थोंमें सब प्रकारका ज्ञान करते हुए भी जो कैवल्यको निहारता है, प्रत्येक पदार्थमें कैवल्यको देखने की रुचि करता है उसकी जो वृत्ति है वह बंधनका कारण नहीं बनती है। मिथ्यादृष्टि जीव के जो यह अध्यवसाय है कि मैं दूसरेको सुखी दुःखी करता हू, जिलाता मारता हू कहते हैं कि वह मिथ्या आशय है और अज्ञानरूप है, बंधका कारण है, ऐसा जानकर यथावत निर्णय करके कि दूसरेके निमित्तमें निमित्त कारण कर्म है, हम आप नहीं हैं। ऐसा जानकर कर्तृत्वका अहंकार, भयभीतता और कायरताको त्याग कर अपने ज्ञानमय स्वरूपकी दृष्टि रखकर उसका आनन्द पायें।

एसा दु जा मदीदे दुःखिद सुहिदे करेमि सत्ते ति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५६॥

अध्यवसायकी बन्धहेतुता—हे आत्मा! तेरी जो यह बुद्धि है कि मैं जीवको सुखी और दुःखी करता हूं सो यह तेरी मूढ़ बुद्धि ही है। ऐसी तेरी मूढ़ बुद्धि शुभ अशुभ कार्योंको बांधती है। दूसरे जीवोंको सुखी करनेके आशयसे कहीं दूसरा सुखी नहीं हो जाता, किन्तु सुखी और दुःखी करनेके आशयसे पुण्य अथवा पापका बंध हो जाता है।

कर्मकी वस्तुरूपता—कर्म कोई अलंकारक चीज नहीं है कि वस्तुका कुछ मैटर न हो और केवल जीव जो कुछ करता है उस परिणामको समझने के लिए कोई कर्मबंध या कर्मोदय रूपसे अलंकार हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु कार्माणवर्गणानामक पुद्गल स्कन्ध हैं सूक्ष्म हैं, सर्वत्र भरे हैं, इस जीवके साथ ही लगे हुये हैं वे कार्माणवर्गणावों में जब जीव के विभावकी सैन या उदयागत कर्मोंका निमित्त पाते हैं तो वे कार्माण-

वर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम जाती हैं। यदि ये कर्म अलकार मात्र होते तो इसका उत्तर दो कि आगममें जो स्पष्ट कहा गया है कि कार्माणवर्गणायें होती हैं और उनका रूप सफेद होना है। कार्माण-वर्गणाओंका रंग श्वेत है और जब यह जीव मरकर दूसरे भवमें जाता है तो जब तक रास्तेमें रहता है याने विग्रह गतिमें रहता है तब तक तो उसका श्वेत वर्ण रहता है और जब स्थान पर पहुंच जाता है तो कपोत अर्थात् चितकबरा रंग हो जाता है। फिर इसका ही कुछ समय बाद जिसे कहते हैं गर्भमें आ चुका पूरा संभल चुका तब जैसा भी वर्ण हो वैसा वर्ण हो जाता है। तीन स्थितियां हैं कर्मकी देहके रंगकी—(१) रास्तेकी, (२) अपर्याप्त अवस्थाकी और (३) पर्याप्त अवस्थाकी।

कर्मकी वस्तुरूपताका समर्थन—इतना विशद वर्णन न होता यदि कर्म अलंकार मात्र होता, देखो कर्म समूहको केवली जानता है व अवधिज्ञानी पुरुष भी जानता है। अवधिज्ञानियोंमें जो ऊँचे अवधिज्ञानी होते हैं वे कार्माणवर्गणाओंको अपने ज्ञानसे प्रत्यक्ष जानते हैं। इन कार्माणवर्ग-णाओंका रूप निश्चित है स्पष्ट बताया भी है, और जब ये बनते हैं उस समय इन कर्मोंमें प्रकृति पड़ जाती है कि इतने परमाणु जीवको ज्ञानके घातके निमित्त होंगे, इतने सुखके निमित्त होंगे ऐसी उनमें प्रकृति भी पड़ जाती है, उनमें स्थिति भी पड़ जाती है कि जिसमें बंधे हुये कर्म इतने दिन तक जीवके साथ रहेंगे छोड़ेंगे नहीं, ऐसी स्थिति भी पड़ जाती है अनुभाग भी उनमें पड़ जाता है। ये कर्म इतने दर्जेका सुख या दुःख देने के निमित्त होंगे। उनमें प्रदेश बँटवारा भी हो जाता है आजके समयमें बांधे हुए कर्म आबाध काल तक तो उदयमें न आयेंगे और उसके बाद प्रत्येक समयमें पहिले समयमें इतने निषेक आयेंगे, दूसरे समयमें इतने आयेंगे ऐसा प्रदेशोंका बँटवारा भी हो जाता है। इतना कथन जिसके बारेमें कहा गया हो और यह तो मोटी बात बताई है जिनकी इससे भी सूक्ष्म समय समयकी स्थितियोंकी चर्चा जिन कर्मोंके बारेमें बताई गई हो वे कर्म अलंकार रूप नहीं हो सकते।

निमित्तवर्णनकी स्वभावपरिचय प्रयोजकता—निमित्तका वर्णन निमित्त की रुचिके लिये नहीं होता, किन्तु निमित्त बताकर नैमित्तिक कार्यकी सिद्धि जिसमें की जा रही है उस वस्तुका वह नैमित्तिक कार्य स्वभाव नहीं है, वस्तुस्वभाव उससे परे है, इस तथ्यकी दृढ़ता लानेके लिये निमित्तका वर्णन किया जाता है। ज्ञानी पुरुषकी रुचि परभावसे भिन्न निज अन्त-

स्वत्वमें होती है। विभावभाव निमित्त सन्निधान बिना अर्थात् निमित्त पाये विना हुए हैं ऐसी समझ अहित करने वाली है, क्योंकि यह समझ मिथ्याज्ञान है। हां विभावभाव निमित्तकी परिणति लिये बिना हुए हैं, क्योंकि विभावभाव अपने आपके जीवकी परिणति है, निमित्तकी परिणति नहीं, यह अर्थ माना जाय "विभावभाव निमित्त विना होते हैं" इस वाक्य का तो यों कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जिन शब्दप्रयोगोंसे श्रोताको सुगम, असंदिग्ध, स्पष्ट बोध हो ऐसे ही शब्द प्रयोग निर्मोह पुरुषोंके द्वारा किये जाते हैं। यद्यपि कर्मके उदयको निमित्तमात्र पाकर जीवमें रागद्वेष भाव होते हैं तथा जीवके रागद्वेषभावोंको निमित्तमात्र करके कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, तथापि कर्मोंका यावत परिणमन है वह कर्मोंमें ही होता है, जीवका यावत् परिणमन है वह जीवमें ही होता है, कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव क्रोधी बन गया तो भी कर्मोंने क्रोधी नहीं किया, किन्तु कर्मोंका निमित्त पाकर जीव स्वय अपनी परिणतिसे क्रोधी बना। वस्तुकी स्वतंत्रताको दृष्टिसे हटा दोगे तो कुछ भी हाथ न लगेगा। निमित्तका वर्णन वस्तुके स्वभावकी रक्षा कराने के लिए है, न कि वस्तुके स्वभावको दृष्टिसे ओझल करने के लिए है।

अपनी संभाल—यहां बतला रहे हैं कि मैं दूसरे को सुखी करता हूं, दुःखी करता हू ऐसा जो परिणाम है वह मूढ़ परिणाम है। इस परिणाम में यह जीव शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका बंध करता है। करता दूसरेका कुछ नहीं है जीव, केवल अपना परिणमन करता है। एकत्वके परिज्ञानकी बड़ी महिमा है। इस जीवने अभी तक सब कुछ पुण्य और पापका ज्ञान किया पर अपने आपके सहजसत्त्वके कारण कैसा स्वरूप है? इसकी दृष्टि और अनुभवन नहीं किया। किसी दूसरेके मुकाबलेमें जो कोई थोड़ा गलत हो तो उसके मुकाबलेमें डटकर आ जाने का परिणाम खुदके लिए तो भला नहीं होता। उसका कारण यह है कि फिर उसकी दृष्टि केवल एक ओर रह जाती है और स्वतंत्रतासे जो अपने विचार चल सकते हैं वे सब कुण्ठित हो जाते हैं। अत कल्याणार्थी पुरुष, वहां क्या हो रहा है इस ओर दृष्टि न देकर स्वय अपने कल्याणके लिए क्या योग्य है, उस तरहकी दृष्टि रखे और उस तरहका ही सुनने, बोलने, व्यवहारचर्चामें रहे तो उसमें रहते हुए दूसरेका यदि भला होता है तो हो जायेगा स्वयं ही आपकी वृत्ति देख करके।

सत्यके आग्रहकी ही कार्यकारिता—हम यदि किसी दूसरेको दुःखी

करते रहें, किसी प्रकारका अपने आपमें हठ करें तो उससे अपना मार्ग रुक जायेगा। हठ करें अपने आपके लिए। अपने को जो सत्पथ जचे उसकी हठ करें। अपने आपकी हठ व्यक्त न होकर वह तो छिपी हुई अन्तरमें हुआ करती है। तो हमें चाहिए सत्पथका हठ। अपने को सत्पथ पर कैसे ले जाना है, सत्पथ पर चलकर कैसी स्थितिको बनाना है ? वह स्थिति और वह आत्मस्वरूप अपनी दृष्टिमें न रहे तो हमने अपना हित क्या किया ?

स्वतंत्र निरखनेके ज्ञानका बल—दूसरे जीवोंका कुछ कर दूंगा, दूसरे जीवको मैं सुखी कर दूंगा यह परिणाम मिथ्या है अथवा सही है ? यह परिणाम मिथ्या है और मैं दूसरे को मोक्ष पहुंचा दूंगा यह परिणाम भी मिथ्या है, मैं दूसरेको नरक पहुंचा दूंगा यह परिणाम भी मिथ्या है, मैं दूसरोंको समझा दूंगा यह परिणाम भी मिथ्या है, मैं केवल अपने परिणमनको ही कर सकता हूं, दूसरेके परिणमनको नहीं कर सकता हूं। भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है इसका कारण उनके वचनयोग है, और चूंकि उस दिव्यध्वनिसे भव्य जीव लाभ उठाते हैं तो भव्य जीवोंका उसमें भाग्य है। उनका वचनयोग तो सीधा निमित्त है। पर उन श्रोतावोंने भगवानमें कुछ कर नहीं दिया कि उनके कुछ कर देनेसे भगवान दिव्यध्वनि खिराने लगे। निमित्तनैमित्तिक भाव होते हुए भी हर जगह उन पदार्थोंकी स्वतंत्रताको निरख सकें, यह बहुत बड़े ज्ञानबलका काम है।

परका परमें कर्तृत्वका अभाव—किसी समय चक्रवर्ती सभामें सुनने आ जाय और भगवानकी दिव्यध्वनि खिरनेका समय न हो, क्योंकि उनकी तो समय पर ही दिव्यध्वनि होती है और चक्रवर्ती जैसे कोई महाराज आ जायें तो असमयमें भी दिव्य ध्वनि होने लगती है। इतने पर भी चक्रवर्तीने भगवानका कुछ नहीं किया, किन्तु ऐसा ही सहज मेल है, परिणमन होता है निमित्त पाकर। भगवान रागी नहीं है कि उनके मन में यह राग आ जाय कि चक्रवर्ती आये हैं और दिव्यध्वनि खिराना चाहिए। तिस पर भी खिर जाती है। इसे कहते हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध। एक पदार्थने दूसरे पदार्थमें कुछ नहीं किया। खूब निरख लो।

वस्तुके स्वयंमें वास्तविकताका दर्शन—औरोंकी तो बात जाने दो, सामने ही देखो इस घड़ीको हाथसे उठाकर यहाँ रखा, पक्का निमित्त नैमित्तिक है ना ? इतने पर भी हाथमें हाथको देखो, घड़ीमें घड़ीको देखो तो यह ध्यानमें आयेगा कि हाथने तो अपने हाथमें काम किया, पर ऐसी

स्थितिमें चूँकि यह घड़ी थी सो अपना काम करते हुए हाथका निमित्त पाकर घड़ीमें घड़ीका काम हुआ। यह है स्वतंत्रताका विश्लेषण। स्वतंत्रता के विश्लेषणमें निमित्तनैमित्तिकभावका खण्डन नहीं हुआ। वह अपनी जगह है। स्वतंत्रताकी दृष्टिसे जो बात समझमें आती है वह अपनी जगह है। सबके एकत्वका ज्ञान बड़ा दुर्लभ है। समयसारजी में ही तो सबसे पहिले यह बताया है कि एकत्व निश्चयगत जो आत्मतत्त्व है उसकी कथा असुलभ है। और काम-भोग बंधकी कथा जीवोंमें बड़ी सुलभ है।

उपदेशोंका प्रयोजन ज्ञानस्वभावकी दृष्टि—भैया! जितने भी उपदेश हैं सब उपदेशोंका प्रयोजन है इस शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करना, क्यों कि मुक्ति होती है तो इस स्वभावके आश्रयसे ही होती है। किसी परवस्तु या परभावकी ओर दृष्टि रखनेसे मुक्ति नहीं होती है, क्योंकि मुक्तिका अर्थ है छूटना। छूटना तब होता है जब अकेले रह जाय और अकेले रह जानेके लिए चूँकि यह चैतन्य ज्ञानमय है, सो ज्ञानका ही प्रयोग कर सकता है। सो अपने ही ज्ञानमें ज्ञानके ही द्वारा ज्ञानमात्र अकेला निरखे तो यह उपाय व्यर्थ नहीं जाता। यही मुक्तिका अमोघ उपाय है। तो जैसी श्रद्धा करोगे तैसी ही वृत्ति चलेगी। हम अपने स्वरूपको स्वतन्त्र समझ सकेंगे। अपने स्वरूपको हम अपने आपके कारण सत् समझ सकेंगे तो हमें इस केवलमें रुचि होगी, इस केवलकी दृष्टि होगी।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके वर्णनमें भी भयका अनवकाश—भैया! इस बातसे घबड़ाकर कि कहीं आत्माके स्वभावकी स्वतंत्रता नष्ट न हो जाय, निमित्तको न मानें अथवा निमित्तको एक अलंकार रूपमें ही शास्त्रोंमें कहा है, इस प्रकारकी दृष्टि करके निमित्तको न समझाना, न समझना या उड़ा देना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है, किन्तु यह जानना चाहिए कि निमित्तका वर्णन भी आचार्योंने हमारी ही मंसाकी पूर्तिके लिए किया है। हमारी मंसा है अपने शुद्ध स्वतंत्र स्वभावको निरखना। यही तो चाह है ना सभी कल्याणार्थियोंकी जो अपने केवल स्वभावको नहीं देखना चाहता है वह तो कल्याणार्थी नहीं है। जहाँ यह वर्णन आता है कि ये सब सुख दुःख, ये सब व्यवस्थाएँ, ये सब रागद्वेष मोह सब विकार कर्मोंके उदयके विपाकसे प्रभव हैं। इतनी बात सुनकर तुरन्त यह ज्ञान होता है और उत्साह होता है कि यदि यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र हूँ।

दृष्टान्तरूप अनित्यभावना—जैसे अनित्यभावना हम आप खूब सुनते

हैं—राजा राणा सब मरते हैं, क्षत्रपति, सेना सब मरते हैं, कोई यहाँ नहीं रह पाता है। सुनते जाइए, इससे क्या लाभ लूटा? इस सुननेसे लाभ तब लूटा हुआ कहा जा सकता है जब यह दृष्टि रहे कि ये सब तो अनित्य हैं, पर मेरा वह चैतन्यस्वरूप ध्रुव नित्य है। अनित्यकी बात सुनकर यदि अपने नित्यका ध्यान न आये तो उन अनित्यकी बातोंको सुनना किस्सा कहानीका सुनना जैसा है। उससे मोक्ष मार्ग न मिलेगा। और वह अनित्यभावना कहो कुछ घबड़ाहट उत्पन्न कर दे, धन वैभव मिट जायगा, घर द्वार छूट जायगा, सब परिजन छूट जायेंगे। इस तरहसे यह अनित्य भावना कहो घबड़ाहट पैदा कर दे। तो क्या अनित्य भावना घबड़ाहट पैदा करानेके लिए है? क्या इन सुखोंको दुःखी करनेके लिए यह अनित्यभावना बतायी गयी है, कि ये भक्तजन दुःखमें ही पड़े रहें, रोते रहें? रुलानेके लिए अनित्यभावना नहीं है। अनित्यभावनाका प्रयोजन यह है कि इस अनित्य जगतमें रुचि हटाकर जरा अपने परमार्थस्वरूपको तो देखे। अनित्यभावना देखनेका प्रयोजन है निजनित्य पर दृष्टि पहुंचना। यह काम यदि न किया तो अनित्य ही कहनेसे लाभ नहीं हो गया बल्कि हानि कर ली, कर्तव्यविमूढ़ हो गया।

प्रकृत दृष्टान्त—इसी प्रकार निमित्तका वर्णन सुनकर निमित्तनैमित्तिकका सम्बन्ध ही देखकर तो कुछ भला होता नहीं। देखो हमने किया ना यह, हुआ ना ऐसा, ऐसा ही अपना रंग बनाये रहे तो उससे लाभ क्या लूटा? उस वर्णनसे लाभ लूटा हुआ तब कहना चाहिए जब यह बात आपमें उत्साह जगाये कि ओह ये तो सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे होने वाली बातें हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक सहज शुद्ध जानन स्वभावरूप हूं जो निरपेक्ष है। हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम—यह दृष्टि जगे, इसके लिए निमित्तनैमित्तिक भावका वर्णन है, न कि निमित्तनैमित्तिकी रचना खाली निर्माणविधिकी कथा गानेके लिये है। उसे समझ लीजिए, ज्ञान कर लीजिए परहितका मार्ग तो सहजस्वभाव है।

प्रमाणकी रक्षणशीलता—कोई उतावला बनकर कि निमित्तका तो नाम लेनेसे वस्तुकी स्वतंत्रता खत्म हो जाती है। इसलिए निमित्तका यहाँसे शब्द ही हटावो यह कुछ चीज नहीं है। ऐसे उतावलेपनसे भी विनाश होता है और सारा निमित्तका ही तो सब माहात्म्य है, वही तो सब कुछ करता है, वही सुखी करता है, दुःखी करता है, वही मोक्ष दिलाता है। अपने आपकी भी कुछ वृत्ति होती है, कला होती है, अपराध या कुछ

समीचीन दृष्टि हुआ करती है इस बातको बिल्कुल भुला दिया तो इस ओर जाकर गिरोगे। जैसे एक तालाब या एक नदीके बीच ६ इंचकी ही पटरी डाल दी जाय अंत तक तो उसपर चलना जैसे दुर्गम माना जाता है ? इसी तरह ज्ञानकी पटरी पर चलना उससे भी अधिक दुर्गम है। जरा चूके तो इस ओर गिरोगे या उस ओर गिरोगे। निमित्तनैमित्तिक माननेमें डर क्या है, और वस्तुकी स्वतंत्रता माननेमें डर क्या है ? दोनोंमें प्रवेश करा देने वाला प्रमाण है।

अपनी वृत्तिपर अपने भविष्यकी निर्भरता—इस जीवकी यहाँ आश्रय की चर्चा है। आश्रयभूतमें ही इतना महत्त्व डाल दिया तो बहिरात्मा है यह पुरुष कि मेरा जीवन, मेरा पालन, मेरा पोषण अमुकके द्वारा ही होता है, यह न हो तो न हो। अरे जिसके द्वारा तुम्हारा पोषण होता है, सोचो तो सही कि आप बड़े हैं या वह बड़ा है ? आपके पुण्योदयका निमित्त पाकर दूसरा पालन कर रहा है। उदय किसका बड़ा कहलाया ? जिसका पालन किया जा रहा है उदय उसका बड़ा है। जो पालन कर रहा है उसका उदय उसके लिए इतना बड़ा नहीं है। वह उसके पुण्यके उदयसे पालनेका निमित्त बन रहा है। कहाँ दृष्टि डालते हो ? कोई कहे कि मेरे उदयसे पालन होता है, तो फिर इसको अटपट बोलो— गालियाँ दो, तुम मेरे कुछ नहीं हो, मेरा कुछ नहीं करते हो। मेरा उदय है सो तुम्हें नाचना पड़ता है। अरे जहाँ इतनी कृतघ्नता अथवा इतना विषम भाव बन जाय तो वहाँ पुण्य भी खतम हो जायगा। अब जब पापका उदय आयगा तो उसका निमित्त दूसरा बनेगा।

मेरे वशमें मेरे अपराधकी साधकतमता—भैया ! जो कुछ जीवका भविष्य है भला या बुरा वह उसकी चेष्टापर निर्भर है। मैं तो बुरा बना रहूं और दूसरे लोग मेरे लिए आरामके साधन जुटायें, यह नहीं हो सकता है। मैं भला रहूं और लोग मुझे दुःखी कर सकें यह नहीं हो सकता। कदाचित् मैं भले आचरणसे रहूं इतनेपर भी लोग मुझे सतानेका भाव रखें और सतानेका उद्यम करें, इतनेपर मुझे यदि दुःख होता है तो उसमें मेरा अपराध है कि मैं अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिमें क्यों नहीं रह सका ? क्यों सम्बंध दृष्टिमें बह गया ? ये मुझे यों कहते हैं। मैं तो हूं निरपराध, ऐसी जो बाह्य दृष्टि बनी यह तो मैंने अपराध किया है, उसका फल दूसरा कौन भोगने आयगा ? मैं कैसा ही करूँ, कुछ करूँ, कर संकूंगा तो अपना ही परिणमन। दूसरेका परिणमन मैं नहीं कर सकता।

उपादानकी प्रकृति—यह उपादानभूत वस्तुवोंकी योग्यता है कि वे किसी उपाधिका सान्निध्य पाकर कैसा परिणमन जाती हैं, यह उपादानमें प्रकृति पड़ी हुई है, तो उपादान अपनी प्रकृतिके अनुसार परका निमित्त पाकर अपनी विकृत परिणति बनाया करता है। उसमें परका कुछ आया हो ऐसा नहीं है। प्रकृति ही उपादानमें ऐसी पड़ी हुई है, इस प्रकारके एक समीचीन ज्ञान करानेके लिए यह वर्णन इसमें प्रत्येक अधिकारमें आया। परवस्तुका परवस्तुके प्रति कर्तृकर्मत्व भाव हटानेके लिए सभी अधिकारोंमें यह चर्चा है, और खासकर एक अधिकार अलगसे भी कर्तृकर्म अधिकारको बनाया है।

स्वहितयत्न—हमें कुछ अपनी बात नहीं रखनी है, हमें अपना मत नहीं बनाना है, हमें अपना कुछ बड़प्पन नहीं जताना है, हमें अपना कुछ मार्ग नहीं चलाना है, ऐसी बात मनमें रखकर केवल हित करना है, यह भाव बनायें। बड़ी कठिनतासे यह नरभव मिला है, ऐसा कुल, ऐसा धर्म ऐसा संग, ऐसी गोष्ठी ये सब बड़ी कठिनतासे मिले हैं अब इस कठिन अवसरको पाकर हमें क्या देखना है किसी भाई की ओर किसी अन्यकी ओर? इसलिए कि किसीके खण्डन मण्डनका परिणाम करके, अपने आपको किसी पक्षमें रंग करके अपने समयको खो लेना ऐसा कुछ नहीं करना है। समतापरिणामसे अपने हितके ध्येयको सोचकर जानकर चलना चाहिए। मेरी मदद करने वाला दुनियामें कोई नहीं है, मैं ही मेरा मददगार हूं, जिम्मेदार हूं। एक काम है, एक प्रयोजन है, एक दृष्टि है। चाहे भक्ति करो, चाहे स्वाध्याय करो, चाहे पुद्गलकी बात, चाहे जीव की बात, सर्व प्रकरणोंमें, सर्व व्यवहार परिणतियोंमें प्रयोजन उसका एक है। किसी प्रकार उसके सहज चैतन्यस्वरूपकी कदाचित् झलक हो जाया करे, जिस झलकके प्रतापसे मेरा भव समाप्त होगा, सदाके संसार संकट टलेगा।

हितार्थीका एक अविचल प्रयोजन—भैया! अपना एक ही तो काम है। जब जिसका प्रयोजन निश्चित हो जाता है तो वह सब जगहोंमें, सर्व वातावरणमें, सर्वउपदेशोंमें जो यथायोग्य बनते हैं उनमें अपने प्रयोजन को ही निरखता है। जैसे व्यापारी कहीं भी बैठे, उसका अपनी आमदनी बनानेका प्रयोजन नहीं छूटता। कहीं जावो, कहीं भ्रमण करो, कुछ करो, कैसी ही बात हो, अपनी उस प्रतीतिसे नहीं मिटता, जो आयका अर्थी है। इसी प्रकार जो अपने स्वभाव साधनका अर्थी है, केवलज्ञान प्रतिभास

मात्र अपने अनुभवनका अर्थी है ऐसा पुरुष सर्वत्र सर्वप्रसंगोंमें अपने आपका प्रयोजन नहीं भूलता। सुन लिया हमने कि स्वयम्भूरमण समुद्रमें एक हजार योजन लम्बा मच्छ रहता है, शंका नहीं है, इसको जानकर खुश हो रहे हैं, इतना बड़ा विज्ञान है। ५०० योजनका चौड़ा है, ढाई सौ योजनका ऊँचा है। खूब इस तरहसे सुनते जाइए, पर प्रयोजन इससे यह निकालना है कि अपने चित्तमें यह बैठा लेवो कि अपने आपमें विराजमान इस शुद्ध चैतन्य प्रभुके दर्शन बिना ऐसी स्थिति जीवकी हो जाती है।

कर्तृत्वके मदमें करनेके निषेधकी भी विपर्यास्तता—कोई भी वर्णन हो सब वर्णनोंसे यह हितार्थी पुरुष अपने स्वभाव दर्शनका प्रयोजन निकाल लेता है। इस प्रकरणमें समझा रहे हैं कि यह जो तेरी बुद्धि है, अध्यवसाय है कि परजीवोंको मारता हूं, अथवा पालता हूं, जिलाता हू, मारता हूं, दूसरे जीवोंको दु खी करता हूं—अथवा सुखी करता हू ये समस्त अज्ञानमय अध्यवसान हैं। मैं किसी दूसरेको दु खी करता हू, क्या यह बात सच है? सच है। नहीं कोई कहे कि देखो मैंने उसे बचा दिया, मैंने उसे मारने नहीं दिया। इतनी मेरी हिम्मत है। इसमें भी कर्तृत्वका अध्यवसाय है। जैसे मैंने उसे मारा, यह कर्तृत्वके मदमें कह रहे हैं, इसी प्रकार मैंने नहीं मारा, यह भी कर्तृत्वके मदसे कहा जा रहा है। इसीलिए इसमें भी बंध है। मैंने नहीं मारा, इस अध्यवसायमें भी बंध है। कहीं उपेक्षाभावसे यह वृत्ति नहीं जगी कि मैंने नहीं मारा, किन्तु कर्तृत्वके आशयमें यह बुद्धि जगी है।

मूलके विपर्यासमें उत्तरकी विपर्यासता—भैया! जब कोई घड़ा पहिले से औंधा करके रखा हुआ हो तो उसपर जितने भी घड़े रखे जायेंगे औंधे ही रखे जा सकते हैं। जिसके मूलमें कर्तृत्वका अध्यवसाय है, मैं दूसरेको यों कर सकता हू, कुछ कर सकता हू अथवा दूसरेको मारनेकी विधिकी बात कहे—मैंने मारा, इसमें भी कर्तृत्व मद है। मैंने नहीं मारा, ऐसा कहनेमें भी कर्तृत्वका मद है। मूल कर्तृत्व बुद्धि हटे और वस्तुकी स्वतंत्रताका परिज्ञान हो और ऐसा परिज्ञान हो कि अनेक प्रकार निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होता है, इतनेपर भी हमें प्रत्येक पदार्थका अपने-अपने स्वरूपमें सत्त्व नजर आये। इतना वस्तुस्वरूपका अभ्यासी पुरुष अपने आपको मोक्षके मार्गमें कुशलतासे लगाता है।

अध्यवसायका भाव—भैया! जितना कर्तृत्वका परिणाम बनता है

वह सब अज्ञानमय अध्यवसाय है। अध्यवसायका अर्थ है, अधि अवसाय, अधिक निश्चय कर लेना। वस्तुके स्वरूपसे भी ज्यादा निश्चय करना, बोलना, इसे कहते हैं अध्यवसाय। यह संसारीसुभट वस्तुस्वरूपसे भी अधिक निश्चय करता है। ये संसारीसुभट किसी बातमें सर्वज्ञसे भी अधिक जानते हैं। ये जीव जानते हैं कि यह घर मेरा है, पर भगवान नहीं जानता कि यह मकान मेरा है। क्योंकि भगवान यदि जान जाय कि यह मकान हमारा है तो यह तो एक पक्की सरकारी रजिस्ट्रीसे भी पक्की हो गई। जिस घरको भगवानने कह दिया कि यह घर इसका है तो वह घर तो अविनाशी हो जायगा, मिटेगा नहीं, बिछुड़ेगा नहीं।

अध्यवसायका फल—ये ही सब भाव अध्यवसाय हैं। देखो इसकी सुभटता कि इस जीवने सर्वज्ञसे भी अधिक इस दिशामें जाना। तो जो अपनी चादरसे ज्यादा पैर फैलाये उसके ठंड ज्यादा घुस जायगी। इस संसारी जीवको सर्वज्ञके ज्ञानसे अधिककी जानकारी करनेमें लगनेसे जन्ममरण करना पड़ता है। तो अध्यवसाय जिनके होता है उनके रागादिक भाव हैं इसलिए या तो शुभ बंधका कारण होगा या अशुभ बंधका कारण होगा।

यावन्मात्र अध्यवसाय हैं, सभी बंधके कारण ही होते हैं ऐसा अब निश्चय करते हैं।

> दुःखिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
> तं पापबन्धगं वा पुण्णस्स व बन्धगं होदि ॥२६०॥
> मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
> तं पापबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥

परोन्मुखताकी बन्धकता—हे आत्मन्! तेरा जो यह अभिप्राय है कि मैं जीवोंको दुःखी और सुखी करता हूं, यह अभिप्राय पापबंधका करने वाला होता है अथवा पुण्यका बंध करने वाला होता है, और जीवोंको मैं मारता हूं अथवा जिलाता हूं यह अभिप्राय भी पाप अथवा पुण्यका करने वाला है। इस प्रकारका अध्यवसाय करते हुए की स्थितिमें जीव अपने स्वभावमें नहीं रह सकता क्योंकि उसकी परपदार्थोंकी ओर दृष्टि गयी है, इसी कारण अपने स्वभावसे च्युत होनेसे शुभ और अशुभ कर्मोंका बंध करता है। बंधकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनों समान हैं, चाहे पुण्यबंध हो और चाहे पापबंध हो, क्योंकि इस संसारमें रोके रहनेका काम इन दोनोंका है। जैसे कैदमें किसीको सोनेकी बेड़ी पहिना दी और किसीको लोहेकी। कैदका

मतलब तो रोक है। रोकमें दोनों बेड़ियोंकी समानता है।

भावोंका विकट बन्धन—भैया ! पुण्यका बंधन होनेपर इस जीवको मीठा क्लेश होता है। कैसा ? कि अन्तरङ्गमें तो क्लेश है पर मानता उसमें हर्ष है। हर्ष भी क्षोभके बिना नहीं हुआ करता। कभी-कभी हँसी अत्यधिक आ जाय तो उस हँसीमें पीड़ा और दर्द होने लगता है। पुण्यके उदयसे पाये हुए समागममें जो हर्ष मानता है उसका आधार आकुलता है। राग हुआ, और राग होनेसे आकुलता हुई, इसलिए उसके बंधन हुआ अन्यथा बन्धन न होता। मैं जीवोंको सुखी करता हूँ या दुःखी करता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय है इसमें परदृष्टि है और परमार्थसे परकी ओर दृष्टि लगाना ही बन्धन है। पौद्गलिक बंधन भी साथ होते हैं मगर साक्षात् बंधन तो परकी ओर दृष्टि करनेका है। जैसे किसीका स्त्रीमें चित्त है, पर इस शरीरसे बँधा नहीं है, पृथक् पृथक् वस्तु हैं। दूसरेका बंधन नहीं है, पर उसने अपनेमें रागपरिणमन करके एक बंधन बना लिया है, और वह रागपरिणामके कारण ऐसा बंधनमें दुःखी है कि वह स्वाधीन नहीं रह पाता है, परवश रहता है।

अध्यवसायोंकी बन्धनप्रकृति—तो जितने भी अध्यवसाय हैं वे सब बंधके ही कारण हैं। जैसे पुरुषको निन्दा सुननेमें क्लेश होता है इसी प्रकार प्रशंसा सुननेमें भी क्लेश होता है, पर इस क्लेशको क्लेशरूप नहीं मानते। विकल्पोंका स्वभाव ही क्लेश उत्पन्न करना है—चाहे निन्दाकी मान्यताका विकल्प हो चाहे प्रशंसाकी मान्यताका विकल्प हो। जहाँ विकल्प होते हैं वहाँ आनन्द नहीं ठहरता। अपने आपको आनन्द निर्विकल्प स्थितिमें ही होता है। पुण्य निर्विकल्प स्थितिका कारण नहीं है, वह तो विकल्पोंका ही हेतु है। पुण्यसे मिलो परसमागम, मोहनीयसे हुआ इष्ट परिणाम। तो अब अपने रागवश कल्पनाएँ बनाता है, और उन कल्पनाओंको बनाकर दुःखी होगा। कभी अनुकूल बातसे भी दुःखी होगा और कभी प्रतिकूल बात हुई तो आर्तध्यान करके दुःखी होता है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों ही दुःखस्वरूप हैं, पर आर्तध्यानका व्यक्त दुःख है और रौद्रध्यानका आन्तरिक दुःख है।।

रौद्रध्यानकी मलिनता—मलिनताकी दृष्टिसे देखा जाय तो आर्तध्यानकी अपेक्षा रौद्रध्यान अधिक मलिन है। दूसरे जीवको दुःखी करके हर्ष मानना, झूठ बोलकर झूठी गवाही करके दूसरेको फँसाकर सुख मानना, यहाँ वहाँकी चीजें चुराना और परिग्रह जोड़कर संचय करके

आनन्द मानना, ये समस्त स्थितियाँ इस जीवको अन्तरमें विह्वलता ही उत्पन्न करती हैं। तब पुण्यके उदयमें भी क्लेश हुआ और पापके उदयमें भी क्लेश हुआ। बंधन दोनोंमें समान है। जितना भी परवस्तुवोंके सम्बंध में अपना सम्बंध जोड़ना हुआ, निश्चयसे वे सब अध्यवसाय हैं, वे राग-मय हैं और अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं। यह मिथ्यादृष्टिका अज्ञान परिणाम बंधका कारण है। मुझे पुण्य पापके भेदसे दो होनेके कारण बंधमें दूसरा हेतु नहीं ढूंढना चाहिए। अज्ञानमय भावबंधन अज्ञानके कारण है। ज्ञान के कारण बंधन नहीं होता।

भैया! ज्ञानगुणका जितना परिणमन है वह सब ज्ञानमय है। ज्ञानमयभावसे बंधन कभी नहीं होता। अज्ञानी जीवके मिथ्यादृष्टि जीवके जो बंधन है वह उसके ज्ञानके कारण नहीं है, चाहे वह कैसा ही ज्ञान हो। अल्पज्ञान हो, कुज्ञान हो, ज्ञानके कारण बंध नहीं है किन्तु उसके साथ जो रागद्वेषादिक अध्यवसाय लगे हुए हैं—ये अध्यवसाय उसके पापबंधके कारण हैं। ऐसा निश्चय करना कि जितने भी बंधन है उस बंधनका हेतु अज्ञान-मय परिणाम है। इस ही एक अध्यवसायके द्वारा दो प्रकारके अहंकाररस पैदा होते हैं। मैं सुखी करता हूँ मैं जीवित करता हूँ इस प्रकारका शुभ अहंकार होता है। मैं दुःखी करता हूं, मारता हूं इस प्रकारका अशुभ अहं-कार पैदा होता है। हो शुभ और अशुभ, परन्तु दोनों ही एक अज्ञानमय परिणाम हैं। यह आत्मपदार्थमात्र अपने आपको परिणमाता है, ऐसी दृष्टिको अलग कर देने वाला यह कर्तृत्वका परिणाम है।

अध्यवसायोंके बन्धहेतुत्वका कारण अज्ञानमयपना—सम्यग्दृष्टि जीवकी सीधी धर्ममें रुचि होती है। पुण्यभाव उसके होता है पर मंगलमय शिव-स्वरूप आत्मधर्मको ही समझता है। जब धर्मकी रुचि होती है और राग-भाव चलता है तब उसके पुण्यभाव बनता है। पुण्य दो प्रकारके होते हैं—१-पुण्यानुबंधीपुण्य और एक पापानुबंधीपुण्य। अज्ञान अवस्थामें जो पुण्य बनता है उसे पापानुबंधीपुण्य कहते हैं और ज्ञानअवस्थामें जो पुण्य बनता है वह पुण्यानुबंधीपुण्य कहलाता है। पापानुबंधीपुण्यसे क्या होता है कि पुण्य बन गया। अब पुण्यका उदय आयगा। उस उदयमें जो उसे समागम प्राप्त होता है तो चूंकि अज्ञानभावसे पुण्य बंधा था तो अज्ञानका ही संस्कार पड़ेगा, और उसमें मूर्छा करेगा, विषयोंमें आशक्त होगा। दूसरोंको न कुछ गिनेगा, अपनेको सर्वस्व मानेगा। ऐसा विकल्प उपज आनेसे ही पाप बँधेगा और पापके फलमें दुर्गति पायेगा।

हितयोगमें पुण्य पापकी समानता—परमात्मप्रकाश ग्रन्थमें भी जहाँ योगीश्वरोंका वर्णन किया है वहाँ समता परिणामका विवरण बताया है अर्थात् योगियोंमें पुण्य और पाप दोनों एक समान दिखाया है। पुण्य कभी सुखका कारण तो पापका उदय भी कभी सुखका कारण होता है। पापका उदय कभी दुःखका कारण बनता है तो पुण्यका उदय भी कभी दुःखका कारण बनता है। यहाँ सुख दुःखका मतलब हित अहित है। पुण्यके उदय से यदि कोई जीव हितके साधनेमें लग जाते हैं, मंदकषाय हुआ, समागम अच्छा हुआ, आजीविकाकी निर्विघ्नता हुई, धर्मकार्यमें लग गए, उन योगियोंके पुण्यका उदय हो तो लोगोंकी भक्ति हो, धर्मात्मा पुरुषोंमें उन्हें आदर हो तो उनका भी अन्तरङ्ग तथा उत्साह और निर्मल होने लगा, उत्साह जगा तो पुण्यका उदय देखो हितका कारण हुआ ना, तो अब इस ओर विचारो कि पापका उदय भी तो कभी हितका कारण होता है। इष्ट-वियोग हो अथवा कोई उपद्रव आपत्ति आये तो उस समय ज्ञान चेत जाय, ज्ञान जग जाय तो सारे समागमका त्यागकर वह हितमें लग जायगा। तो देखो—पापका उदय भी तो हितका कारण बना।

अहितयोगमें पुण्य पापकी समानता—जैसे कि प्रायः पापका उदय अहित का कारण बनता है, पापके उदयमें आकुलता हो, चित्तमें भी संक्लेश हो, इसी तरह पुण्यका उदय भी अहित कारणका बनता है। जवानी, धनसम्पदा और अपनी प्रभुता—जिसे कहते हैं प्रभाव, या अपनी बात चलाना और अज्ञान ये चारों चीजें अनर्थके लिए होती हैं। ज्ञान यदि साथ हो तो इसका अनर्थ रुक जाय पर प्रायःकरके इस वैभवके और जवानीके, अपनी प्रभुता के पाने से अनर्थ ही बनता है। तो पुण्यका उदय अहितका ही करने वाला हुआ।

धर्मद्रष्टाकी दृष्टि—जिसने धर्मस्वरूपको देखा है, धर्ममय निजआत्म-तत्त्वका दर्शन किया है और इस दर्शनमें अलौकिक अद्भुत आनन्द लूटा है ऐसे पुरुषोंको पुण्य और पाप दोनों ही बंधन जँचते हैं। तो मैं दूसरेको दुःखी करता हूं या मारता हूं ऐसे परिणाममें अहंकार आया। उसे अशुभ बंध हुआ, पापका बंध हुआ। मैं इसको जिलाता हू, मैं इसको सुखी करता हूं, ऐसा परिणाम शुभपरिणाम हुआ, वह पुण्यबंधका कारण हुआ, किन्तु स्व सम्वेदन ज्ञानसे उत्पन्न हुआ, शुद्ध आनन्दका रस लेने वाला तो इन दोनों स्थितियोंको बंधन समझता है।

शुद्धमें गतिकी पद्धति—भैया! शुभ और अशुभ दोनों भावोंसे हटकर

अपने आपके शुद्ध भावोंमें आना चाहिए। प्रक्रिया इसकी ऐसी है कि पहिले अज्ञानपरिणामका त्याग करो, असंयमका त्याग करो, संयमको ग्रहण करनेके बाद संयमसे भी और आगे जो शुद्ध परिणाम है, ज्ञानमात्र है उस ज्ञानमें निष्ठ होओ तब संयमका भी त्याग हो जाता है। ये जो व्रत नियम तप लेते हैं उनसे इस प्रकार अशुभसे हटकर शुभमें आते हैं, फिर शुभसे हटकर शुद्धमें आकर अपने परमपदकी प्राप्ति कर लेते हैं। पर कर्तव्य हमारा क्या है ? यदि हमने पुण्यको हितरूप माना तो फिर पुण्यसे उत्कृष्ट जो धर्म है, ज्ञान है, उसमें हम कैसे लग पावेंगे। दृष्टिमें तो हमारी उत्कृष्ट-पदकी ही निगाह रहनी चाहिए।

स्वभावच्युतिके परिणाम—जो धर्मदृष्टिसे शून्य हैं, अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपसे अनभिज्ञ हैं, ऐसे जीव शुभ अथवा अशुभके अहंकारके रस से ओझल होकर पुण्य अथवा पाप दोनों प्रकारके बंधनोंको करते हैं। दोनों ही बंधोंका कारण अज्ञानमय अध्यवसाय है। अध्यवसायका अर्थ है अधिक निश्चय करना। वस्तु ऐसी नहीं है, वास्तविकता ऐसी नहीं है पर माने वैसा ही इसे कहते हैं अध्यवसाय। कोई जीव दूसरेको सुखी नहीं कर सकता, पर माने कि मैं सुखी करता हू, यही हुआ अध्यवसाय। मैं दूसरेको दु खी नहीं कर सकता, वह दुःखी होता है अपने उदयसे। यह केवल दुःखी करनेका परिणाम ही खराब कर रहा है। तो ऐसा अधिक निर्णय रखना, जो स्वरूपमें भी न पाया जाय उसे कहते हैं अध्यवसाय। इस अध्यवसायसे यह जीव शुद्ध आत्माकी भावनासे च्युत हो जाय सो पापका अथवा पुण्यका बंधक हो जाता है।

अध्यवसायकी व्यर्थता—इस जीवने अपने ही शुभ अथवा अशुभ परि-णामसे जो बंधन बाँधा है-उसके आधीन होकर यह सुख दुःख परिणामको भोगने वाला होता है। तू व्यर्थ ही परजीवोंके सम्बंधमें सुखी दुःखी करने का अध्यवसाय करके अपने शुद्ध आत्माके श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानसे दूर हो रहा है। अपने आपके ज्ञानके अनुभवको छोड़कर अन्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि लगाना यही बंधन है सो जब तूने अपने आपके स्वभावकी दृष्टि छोड़ दी तो प्रकृत्या आकुलता होगी। उस समय तू अपने आपको परि-णामोंसे तो बाँध ही रहा है-पर कर्मोंका भी बंधन हो जाता है। तू दूसरेका कर कुछ नहीं सकता ? केवल विचार कर करके एक अपनेको विवश बना रहा है।

अध्यवसायोंसे स्वयंका अनर्थ—जैसे कोई बूढ़ी, पुरानी देहाती बुढ़िया

जो पुराने दिमागकी है, असभ्य है वह अपने ही घरमें बैठे हुए दाँत किट-किटाती हुई दूसरेको कोसती रहती है जिससे उसे क्लेश होता हो, जो दुश्मन दिखता हो। तो देखने वाले लोग उसे अज्ञानी देखते हैं। केवल अपने शरीरको कष्ट पहुंचा रही है। इसकी इस क्रियाके करनेसे वहाँ कुछ होता नहीं है, बल्कि ईश्वरसे प्रार्थना करती है हाथ पीट-पीटकर कि हे भगवान! इसका विनाश कर दो। तो ये सब चेष्टाएँ क्या उस दूसरे जीवके अहितके कारण बनती हैं? उसका ही स्वयं अशुभ होगा तो क्लेश आयगा, पर इसके सोचनेसे दूसरेको क्लेश नहीं होता। दूसरे जीवका सब कुछ जीवन मरण, सुख और दुःख उसके उपार्जित किए हुए कर्मोदयके आधीन है, दूसरे जीवके विचारके आधीन नहीं है।

भावोंकि सम्हालका संकेत—जैसे बच्चे लोग बैठ जाते हैं और प्रीति-भोज करने लगते हैं। उनके पास कुछ है नहीं, पर खेल करते हैं। पत्ते तोड़ लाये और कहते हैं रोटिया खावो, ये रोटी हैं। ककड़ बीन लाये तो कहते हैं कि ये गुड़की भेली हैं—खावो। तो खाया नहीं गया, केवल भाव ही बनाया गया। अरे जब भाव ही बना रहे हैं तो पत्तोंको कचौड़ी कहकर क्यों न परोसें, पत्थर, कंकड़की डलीको लड्डू कहकर क्यों न परोसें। केवल वे भाव ही तो कर रहे हैं पर कर कुछ नहीं पा रहे हैं। सारा जहान केवल अपने भाव ही कर पाता है, कोई जीव किसी अन्य जीवका सुख, दुःख, हित नहीं कर पाता है। सब अपने आपमें बसे हुए गिड़गिड़ाते रहते हैं। दूसरेकी ओर दृष्टि करके क्षोभ मचाते रहते हैं।

हितकर्तव्य—हम अपना हित देखें, अपना कल्याण सोचें तो हम अपने सुखका मार्ग पा सकेंगे। दूसरेको हम अपने सुखका मार्ग पा सकेंगे। दूसरेको हम मार्गमें लगायें और खुद ज्ञानमार्गका अनुसरण न करें, उसकी दृष्टि ठीक न करें तो इससे कुछ भी लाभमें नहीं है। फिर तो यह संसार है। जब तक उदय है तब तक ठाठ बाट है, उदय खोटा आये तो सब ठाठ मिटेगा, और मरनेके बाद तो जिस किसी भी गतिमें चले गये, खोटी असंज्ञीकी गतिमें चले गये, तब फिर क्या हम वहाँ सम्हाल कर सकते हैं? सम्हाल कर सकनेका तो अवसर इस नरजन्म में ही मिला हुआ है। सो ज्ञानार्जन कर मनन करें, अपने आपकी स्वतंत्रताका दर्शन करें, अपने एकत्वस्वरूपका ध्यान करके अपना हित कर लें। जो है जगतमें उससे हम क्या नफा पायेंगे? अपना परिणाम सुधारें, इस अध्यवसायसे दूर हों, ज्ञानसुधारसका पान करें तो हम सर्वक्लेशोंसे दूर हो सकते हैं।

अध्यवसायके हिंसापना—इस बंधाधिकारमें प्रारम्भसे अब तक जो वर्णन हुआ है, उस वर्णनमें यह निष्कर्ष निकाला है कि अध्यवसाय ही हिंसा है। हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है। और, हिंसाका ही अध्यवसाय क्या, यावन्मात्र अध्यवसाय है अर्थात् परमें कुछ कर देनेके सम्बन्धमें जितना विचार है वह सब हिंसा ही है। किसकी हिंसा करने वाले हैं। अपने आत्माके निश्चय प्राणोंकी हिंसा करने वाले हैं। उनमेंसे हिंसाके सम्बन्धमें इस गाथामें बतला रहे हैं कि वास्तवमें हिंसा-हिंसाका विचार कर लेना ही है।

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

बंध अध्यवसाय परिणामसे होता है। जीव मरो अथवा मत मरो, मारो अथवा मत मारो। निश्चयसे बंध तो जीवके अध्यवसाय परिणामसे होता है।

हिंसापरिणामके सद्भाव व अभावमें हिंसा व अहिंसाके उदाहरण—मोटे रूपमें कोई उदाहरण ले लो। डाक्टर रोगीका इलाज करता है, आपरेशन भी करता है और उस चिकित्सामें यदि रोगी मर जाय तो उस डाक्टरको हत्यारा किसीने नहीं कहा। न कोई सरकार एक्शन ले पाती है। हाँ कोई अज्ञानी हो, सरकारसे प्रमाणित न हो तो सरकार एक्शन लेती है। वह क्योंकि अज्ञानी था, उसके जानकारी न थी फिर हाथ क्यों डाला? अब यह गुजर गया तो इसका अपराध तुमपर है, जिम्मेदारी तुमपर है, यों एक्शन लिया जा सकता है। तो जो जानकार हैं ऐसे वैद्यके हाथसे चिकित्सा करते हुएमें यदि कोई रोगी मर जाये तो उसे लोग हत्यारा नहीं कहते। और, शिकारी शिकार खेलने जा रहा हो, न मिले शिकार और न भी कुछ यत्न करे तो भी यत्न करनेपर भी कोई जीव न मरे तो भी हत्यारा है और हत्यारा है। उसके हिंसाका बंध है।

प्राणघाती एक व हिंसक अनेक—एक आदमी हिंसा करता है और हिंसाका फल अनेक आदमी भोगते हैं यह अपने-अपने परिणामोंकी ही तो बात है। एकने सांप मारा—अब १०-२० जीव मनुष्य पड़ोसके इकट्ठा हो गए—सब कहें कि वाह किसने मारा? मारने वालेने बड़ी बहादुरीकी। ऐसी अनुमोदना करते हैं तो उन बीसोंने हिंसाका बंध किया। एकने जो हिंसाकी उसका बंध बीसोंने किया। उसका बंध तो उसीका है पर उन बीसोंने जो अपना परिणाम बनाया उस परिणामसे उन्हें हिंसाका बंध

हुआ ।

अन्यघातसे पहिले हिंसापरिणामका फल भोग लेना--कहो आज हिंसाका परिणाम करे और हिंसा न भी कर पाये और उससे पहिले बंध भी हो गया और फल भी पाने लगा, यह भी सम्भव है। हिंसाका आज परिणाम करे, हिंसा नहीं कर पायी, उस हिंसाके परिणामसे बंध तो उसी समय हो ही गया। और आबाधाकाल निकलकर किसी प्रकार उसका फल भी मिल गया और वह न मर पाया, वह मरे कहो आगे। हिंसाका फल पहिले भोग लिया और तब उस दूसरेकी मृत्यु हो कहो बादमें। तो जितना भी हिंसा का बंध है वह अध्यवसानसे ही है।

अज्ञानीका विपरीत भाव--चूँकि वह अज्ञानी प्राणी ज्ञानी संतोंसे भी बड़ी होड़ मचाने लगा अपनी जानकारीमें, इसलिए दुर्गति सहनी पड़ी। ज्ञानी जीव ऐसा नहीं जानता है कि मैं दूसरेको जीवन देता हूं, सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं, पर वह अज्ञानी अपने अज्ञानसे कल्पना कर लेता है कि मैं उसे सुखी करता हूं। यह महल मकान मेरा है। जो वस्तुमें बात नहीं पड़ी, जो है नहीं बात उसका भी ज्ञान करे तो वह उसका अधिक छलांग मारना हुआ ना, हिम्मतसे ज्यादा। जो उसने अध्यवसानकी छलांग मारी सो उसकी अनेक दुर्गतियां हुई। दूसरे जीवका जो प्राणघात होता है वह उनके कर्मोदयकी विचित्रताके वशसे होता है। कर्मोदयकी बड़ी विचित्रता है। सो कदाचित् प्राणघात हो भी जाय और कभी न भी हो, पर जो मैं मारता हूं ऐसे अहंकाररसमें डूबा है उसने जो हिंसामय परिणाम किया है वह तो निश्चयसे बंधका कारण है क्योंकि निश्चयसे दूसरेके भावोंको दूसरा कोई कर नहीं सकता। दूसरेकी भावनाका परिणमन दूसरा नहीं कर सकता है।

अन्यके द्वारा अन्यके परिणमनकी अशक्यताका उदाहरण--प्राणव्यपरोप यह दूसरेका ही तो परिणमन है। उसको कोई दूसरा नहीं कर सकता। अनेक घटनाएं ऐसी होती हैं कि मारना चाहे और खुद मर गया। जैसे एक बच्चोंकी पुस्तकोंमें कथानक कहा करते हैं कि एक शिकारी किसी पक्षी को मारनेका यत्न करने लगा, पक्षी पर बंदूक चलाना चाहा और ऐसे पक्षी पर कि जिस पर मानो बाज झपट रहा हो खानेके लिए, और उसी पक्षी को मारनेके लिए शिकारीने बन्दूक चलाया, पर अचानक क्या हुआ कि नीचेसे एक सांप निकला, उसने शिकारीको डस लिया, सो सांपके डसे जानेके कारण उसका हाथ हिल गया, तो बन्दूककी गोली उस बाजके

आकर लगी। बाज और शिकारी दोनों पछार खा गए। तो दोनोंने हिंसा का परिणाम किया था। उस पक्षीकी हिंसा नहीं हो सकी और उन दोनोंकी मृत्यु हो गयी। तो मारने वाला जिसे मारने जाय वह कहो बच जाय और खुद मर जाय।

अध्यवसायविकल्पसे बन्धकी निश्चितता—जिसने जैसा परिणाम किया उस परिणाम के अनुसार उसे बंध होगा। अध्यवसान परिणामसे बंध होता है। जीवको मारो अथवा न मारो—यहाँ कोई यह नहीं कह सकता कि यह जीव मर गया है तो मारने दो। हम परिणाम करेंगे तो बंध होगा नहीं तो नहीं। अरे बुद्धि करके तो तुम मारने का यत्न कर रहे हो तो तुम्हारा परिणाम तो खोटा ही है। जहाँ दूसरे के दुःखी करनेका परिणाम हुआ वहाँ तो हिंसाका बंध ही हुआ। और, बंध तो इसे अज्ञानमय परिणामके होनेपर चलता ही रहता है। अपने आत्माका घातरूप बंध। शांति मिलती है जीवको तो शांतिस्वरूप जो निज-स्वभाव है उस स्वभावकी दृष्टि होनेपर, उसपर उपयोग होनेपर इसको शांति प्राप्त होती है। मेरा कहाँ क्या है?

अशान्तिका रूपक—अशांतिका यही तो रूप है कि उपयोगमें कोई परपदार्थका बसना और उसके सम्बधमें कुछ कल्पनाएं गढ़ना, इष्टबुद्धि, अनिष्टबुद्धि कोई बात गढ़ना यही तो अशांतिका रूप है। और अशांति क्या है? किसी पदार्थके द्वारा किसी दूसरे जीवको कोई अशांतिकी भी जा सकती है क्या? कहाँ करें? किसी पदार्थसे कोई परिणमन निकलकर किसी जीवमें पहुंचता हो, क्या ऐसा होता है? अशांति करने वाला पुरुष परपदार्थोंको उपयोगमें लेकर और अपने मोहसे कल्पनाएं गढ़कर दुःखी होता है। जब तक यह नहीं जाना कि मैं सबसे विविक्त हूं, अपने चतुष्टय-मात्र हूं, तब तक अशांति है। मेरा जो कुछ है मुझमें है, मेरेसे बाहर मेरा कोई सम्बंध नहीं है। ऐसी विविक्त दृष्टि जब तक नहीं बनती है तब तक परदृष्टि नहीं हटती, शांति नहीं होती।

मोहका परिचय—मोह नाम किसका है? राग करनेका नाम मोह नहीं है। कोई वस्तु सुहावनी लगी, इसका नाम मोह नहीं है, मोह नाम है सम्बध बुद्धिका। राग और मोह इन दोनोंको लोकव्यवहारमें प्रायः एक ही मान लेते हैं कि वह राग करता है, वह मोह करता है, वह उससे मोह करता है। अरे वह उससे मोह क्या करता है, राग ही करता है। परंतु, दो पदार्थोंका सम्बंध है। मेरा यह है ऐसी जो सम्बंध माननेकी बुद्धि है इसको

कहते हैं मोह। यह मोह नहीं रहता है और फिर भी राग रहता है ऐसे भी जीव हैं। जिन्हें सम्यक्त्व जगा, पंचम गुणस्थान, छठे गुणस्थानके जो जीव हैं उन्हें मोह बुद्धि नहीं रही, पर राग रहता है। बुद्धिपूर्वक भी रहे तो अपनी समझमें आए, तो मोह नाम है सम्बंध माननेका।

मोह मिटनेका अर्थ—भैया! यदि कहा जाय कि मोह मिटाओ तो मोह मिटनेका अर्थ यह है कि सम्बंध नहीं मानो। इसीका नाम है मोहका मिटना। राग तो मिटेगा आगे। ज्ञानाभ्यासका संस्कार दृढ़ होनेपर राग मिटेगा, पर मोहका मिटना तो तुरंत हो जाता है। यहाँ तो दो ही फैसले हैं—सम्बंध मानता है तो मोह है, नहीं मानता है तो निर्मोहता है। कैसा सम्बंध?—यह मेरा है, यह मैं हूं, इसके ये ही हैं, इसका ही यह है, इस प्रकारका जो सम्बंध मानता है उसका नाम मोह है। तो मोह मिटानेका उपाय सम्बंध न मानना है।

मोहका अपरनाम—इसी मोहका नाम मिथ्यात्व है अर्थात् मिथ्यात्व भाव है। मिथ्यात्व भावका भी अर्थ यही है सम्बंध माननेका भाव। मिथ धातु संयोगार्थक है—जिससे मिथुन मैथुन शब्द बनते हैं। सम्बंध मानने का भाव, मिथ्या भाव है, पर उसका "उल्टा" यह अर्थ क्यों पड़ गया? यह बात उल्टी है, गलत है। मिथ्याका अर्थ सीधा उल्टा नहीं है। मिथ्या का अर्थ है सम्बंध। सम्बंधकी बात गलत है क्योंकि एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ कोई सम्बंध नहीं है। इसलिए मिथ्याका अर्थ गलत हो गया, विपरीत हो गया, और, मिथ्याका शब्दकी ओरसे सही अर्थ है सम्बंध वाली बात। मिथ्याभाव। सम्बंध माननेका परिणाम। इसीको कहते हैं मिथ्यात्व।

सम्बंधबुद्धिमें क्लेशकी अधिकता—तो जो इस प्रकार देख रहा है कि मैं जीवको मारता हूं जिलाता हूं, सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं, किसी भी प्रकारका परसे सम्बंध जोड़े अपनी करतूतका, अपने अधिकारका, अपने मत्त्वका, उसमें व्यक्त अव्यक्त सभी सम्बंध आ गए। तो ऐसे सम्बंधका आशय होना मिथ्याभाव है। इन सब अध्यवसानोंमें उसी मिथ्याभाव, सम्बंध बुद्धिकी पुष्ट की है। घरका बच्चा जरासी आज्ञा न माने जिससे कुछ नुकसान भी नहीं होता फिर भी मनमें बड़ा क्लेश होता है। और, दसों बच्चोंने भी तो बात नहीं माना जो पड़ौसके दूसरेके हैं, उनसे नहीं इतना दुःख महसूस होता है। तो वहाँ जो क्लेश है वह सम्बंध बुद्धिका क्लेश है। यह तो मेरा लड़का है और आज्ञा नहीं मानी। इसपर तो मेरा

पूर्ण अधिकार है, फिर क्यों नहीं यह इस प्रकार परिणमता। इस तरहके ख्यालका बड़ा दुःख है।

पोजीशनका क्लेश—जब घरकी कोई बुढ़िया वृद्धी हो गई, बच्चोंकी दादी बन गई तो आरामसे रहती है। बच्चे लोग तंग नहीं करते, दुःख नहीं देते, आरामसे भोजन मिलता है, एक बात ही तो उससे बच्चे नहीं पूछते, उसकी प्रशंसा नहीं करते, लेकिन सम्बंध बुद्धिसे वह बुढ़िया दुःखी होती रहती है, कल्पनाएँ बनाती रहती है। मेरा ही तो है। फिर मेरेको हाथ क्यों नहीं जोड़ता? उसके दुःख जितना बढ़ता है। विविक्तपनेकी दृष्टि आ जाय तो क्लेश कम हो जाय। भारी तो दुःख है। अब बतलाओ थोड़ा सा तो जीवन है, यह भी खतम हो जायगा फिर यह आत्मा कहाँ जायगा? कुछ भी तो न रहेगा। सब तो वियुक्त हो जायेंगे मगर वर्तमान समयमें थोड़े कालको गम नहीं खा सकते। न ख्याल करें, न कल्पनाएँ बनायें। दूसरे मुझे कुछ समझें या न समझें। जो भी ये दिख रहे हैं सब मायामय हैं, विनश्वर हैं। अनेक द्रव्य पर्यायें हैं। पर जब अध्यवसान ही मूलमें लगा हुआ है तो उचित विवेक नहीं जग पाता।

अपना अपने आपकी विशेषतासे बन्धन—निश्चयसे हिंसाका अध्यवसान करना ही हिंसा है। बंधका संक्षेप इतना ही है। यदि अपने परिणाम बिगाड़ा तो बंध हुआ। यह भी देखिये कि निश्चयसे तो जो परिणाम खोटा किया उसमें ही यह बँध गया। यह आत्मा बँध गया, यह उपयोग बँध गया, विवश हो गया। स्नेहका परिणाम हुआ किसी जीवके प्रति तो यह बँध गया। किससे बँध गया? अपने ही रागपरिणामसे बँध गया। दूसरा तो दूसरी जगह है, उससे कहाँ बँध जायगा और अन्य जो अमूर्त पदार्थ हैं, चलने फिरने वाले परिवारजन हैं, इनसे आत्माका स्पर्श भी नहीं है। बँधा क्या? पर यह रागसे बँधा हुआ है। विवश हो गया है, कुछ कर नहीं सकता है तो वास्तवमें बंधन तो परकी ओर दृष्टि लगाना है। अपना परिणाम है।

मोहसे बन्धनकी दृढ़ता—भैया! अज्ञानमय भावोंका आदर करना सो बंधनका दृढ़ करना है। प्रथम तो रागसे बँधे, फिर रागसे ही अपना हित मानें तो उस बंधनको और दृढ़ किया जा रहा है। जैसे रस्सीको २ गाँठ लगाकर बाँध दो और फिर उस पर पानीसे सींचो तो गाँठ और दृढ़ हो गई इसी प्रकार जीवके रागका बंधन तो था पर उस रागपर सिंचन किया, यह मैं हूं, इससे ही हित है, मैं बड़ी चतुराईका काम कर रहा हूं, तो उस

बंधनको और दृढ़ बना लिया। ज्ञानीनिर्मोह पुरुषके भी बाह्य कुछ बंधन तो रहता है मगर उसका बंधन दृढ़ नहीं रहता है। किसी भी समय कुछ व्याकुल होनेके बाद ही तुरन्त सम्हाल कर लेता है और अपने अन्तस्तत्त्व के दर्शन कर सुखी होता है।

परमार्थशरणका शरण—अन्तरमें अनादिसिद्धि परमात्मस्वरूपका जो दर्शन करते हैं, ज्ञानबलसे वे अपने संकटोंको मिटा लेते हैं फिर स्वरूपावलोकन जो होता है उसमें यह सामर्थ्य है कि अन्य समयोंमें भी यह आकुलित नहीं हो सकता। भैया! लोकमें सर्वत्र दृष्टि डाल लो, अपने लिए अपना शरण कुछ नहीं मिलेगा। हाँ खुद भले हैं खुदकी शरण ढूँढ लिया है। अपनी शरण अपना ही परमात्मस्वरूप है, चैतन्यभाव है, सहजभाव है। आत्माके ही सत्त्वके कारण जो लक्षण है उसका परिज्ञान हुआ है तो अब बाह्यमें परमेष्ठीके स्वरूपका ध्यान करके हम उस शरणकी ओर पहुचते हैं पर मूलसे यदि हमने अपने शरणभूतको नहीं पाया तो बाह्यमें भी हमें जो व्यवहारमें शरणभूत है वह भी शरणभूत नहीं है।

अज्ञानभावका बन्धन—जिनका भी बंधन है वह अपने अध्यवसान परिणामका बंधन है, और उस अध्यवसानसे विपरीत जो भाव है उससे मोक्ष है। जिस भावसे बंधन है उसके उल्टा भावसे मोक्ष है। बंधन है सम्बंधपरके भावसे, विकल्पसे। किसी परपदार्थमें कुछ करने धरनेकी बात का परिणमन बनानेका जो परिणाम होता है उस परिणामसे बंधन है। मोक्ष होगा समाधिभावसे। अध्यवसान और सम्बंधके अध्यवसानसे तो यह जीव अपनी कल्पनाओंसे अपने आपकी सीमाओंको तोड़कर याने अज्ञानभावको पकड़कर बाहर छलांग मार रहा है। अर्थात् जो वस्तुस्वरूप में नहीं पाया जा रहा है वैसी ही कल्पना मचा रहा है, पर समाधानभावमें समाधानरूप परिणाम है। सम्यक्रूपसे अपने आपको अपने आपमें आधान कर लेना सो समाधान है। अपने आपको अपने आपमें बिठा लेना सो समाधान है।

समाधिमें समाधान—समाधान परिणाम है समाधिभाव। इस समाधिभावमें चिंता नहीं है, विकल्प नहीं है, शल्य नहीं है, शोक नहीं है, सो यहाँ ही शांति हो सकती है। समाधिरूपपरिणाम शून्य है। केवल शून्य नहीं है। भरपूर भी यह है। यह समाधिस्थ आत्मा मिथ्यात्व रागादिक विकल्प भावों से तो सूना है किन्तु अपना जो चिदानन्द स्वरूप है ज्ञानानन्द, उस स्वरूपका आश्रय लेनेसे, दृष्टि होनेसे ज्ञानमें ज्ञानज्योतिमें बने रहनेसे जो विलक्षण

अलौकिक परम आल्हाद होता है उस ज्ञानानन्दस्वरूपसे वह समाधिस्थ पुरुष भरा हुआ है, भरपूर है। जो भाव है निरुपाधि, किसी उपाधिका सम्बंध नहीं। उपाधिके निमित्तसे होने वाला नहीं, उपाधिसे सम्बंध रखने वाला नहीं। केवल स्वत सिद्ध जो निजस्वरूप है उस निजस्वरूपका दर्शन है, आलम्बन है, आश्रय है, उसका ही झुकाव है उसकी ओर ही अपने ज्ञान को बसाये हुए हैं, ऐसी स्थितिमें जो उसके ज्ञानानन्दका शुद्ध विकाश है उस विकाशरूप परमभावोंसे भरपूर है।

अध्यवसायविकल्पोंकी त्याज्यता— भैया! जिससे लौकिकजन अपनेको भरपूर मानते हैं ऐसे जो रागादिक विकल्पजाल हैं इनसे वह अत्यन्त शून्य है। ऐसी निर्विकल्प समाधि परिणामसे मोक्ष होता है। यही मोक्षका उपाय है। निष्कर्ष यह है कि जीवका जीवन मरण, सुख-दुःख उनके उदयके अनुसार होता है। उनके जीवन मरण आदिकको मैं करता हू ऐसा जो अध्यवसाय है वही बंधका कारण है। दूसरे जीव मारो अथवा मत मारो, मेरे विचारके अनुकूल परिणमो अथवा न परिणमो, पर यह जो सम्बध पाकर अध्यवसान किया गया उससे तो बंधन हो ही गया। जब ऐसी बात है तब रागादिक अपध्यान त्याग करने के ही योग्य है।

अपध्यानसे हानि—किसीकी ईर्ष्या करना, किसीका बुरा विचारना, इनसे क्या लाभ मिलेगा; बल्कि अपने उपयोगको ही मलिन किया, इस यत्नके कारण इसका घात हो ही गया, अर्थात् अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावकी झलक न ले पाया, आनन्द न लूट पाया और इसका यह स्वभाव तिरोहित हो गया, कुन्द हो गया, दब गया, अब जगह-जगह पड़ा है, जन्म मरण करता है, दुःखी होता है। तो अपनेको अपनी दृष्टि करके अपने ही हितके भावसे अपने आपमें अपना समाधान परिणाम बनाना है और इस ही अपने आपकी निर्मलताके प्रसादसे ये सब संकट टलेंगे, ऐसा जानकर अपध्यान छोड़ना चाहिए, इसके लिए यह सब वर्णन किया गया है।

अब भिन्न करके यह बात बतलाते हैं कि कौनसा अध्यवसान पुण्य बंधका कारण है और कौनसा अध्यवसान पापबंधका कारण है।

> एवमलिये अदत्ते अबमचेरे परिग्गहे चेव।
> कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पाव ॥२६३॥
> तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
> कीरइ अज्झवसाण ज तेण दु बज्झये पुण्णं ॥२६४॥

पापबंधके हेतुभूत अन्य अध्यवसाय—जैसा कि हिंसाके सम्बन्धमें

अध्यवसायकी बात कही है कि हिंसामें अध्यवसाय करना सो बधका कारण है। अध्यवसायका अर्थ है परविषयक परिणाम करना। मैं मारता हूं, मैं जिलाता हूं, इस प्रकार अपने आपमें परिणाम उत्पन्न करना इसका नाम है अध्यवसान। अध्यवसाय या आशय दोनोंका अर्थ किसी सीमा तक एक है। तो जैसे हिंसामें जो अध्यवसाय किया जाता है वह पापबधका कारण है। इसी प्रकार झूठमें, चोरीमें, कुशीलमें, परिग्रहमें जो अध्यवसान किया जाता है वह भी पापबधका कारण है। अपनी स्वरूपदृष्टिसे हटे तो बध होगा। बंध नाम भी इसीका है कि अपने आपको विवश कर लेना, स्ववश न रख पाना इसीका नाम बंधन है। स्ववश होनेका नाम मोक्ष है और विवश हो जानेका ही नाम संसार है।

आत्मा जब स्ववश होता है तब इसकी एक-सी परिणति चलती है और जब विवश होता है तो उसकी विचित्र परिणति चलती है। जैसे लोकमें जब कोई मनुष्य स्ववश है तो शांति समता एक ढंग-सी रहती है, और जब किसी रागद्वेषके कारण आकुलता हो जाती है तब इसकी विचित्र परिणति हो जाती है। कभी कुछ चिंता है, कभी कुछ शोक है, कभी कुछ प्रयत्न है, कभी कुछ भाव बनता है, इस तरह जो जीव अपने स्वरूपसे चिगकर परमें दृष्टि लगाता है उस समय यह जीव परवश हो जाता है। कभी राग होता है, कभी द्वेष होता है, धैर्य नहीं रहता, समतापरिणाम नहीं रहता। और, यह जीव जब समस्त परपदार्थोंसे विविक्त है आत्मतत्त्व पर दृष्टि करता है उस समय यह जीव स्ववश हो जाता है, समतापरिणाममें आ जाता है।

पापवृत्तिमें पराश्रयताकी अवश्यंभाविता—परकी ओर दृष्टि किए बिना हिंसाका परिणाम नहीं बनता। मैं दूसरेको मारता हूं, इस तरहसे किसी दूसरेका लक्ष्य किया, तब तो हिंसाका परिणाम बना। इसी प्रकार दूसरे जीवका कुछ लक्ष्य किये बिना झूठ बोलनेका परिणाम नहीं बनता है। झूठ बोलना किसीको ही तो बोलना है, दूसरेका लक्ष्य तो करना ही हुआ और उसके साथ लगा है अपना स्वार्थ, विषय, प्रेम, सो वह कारण बन रहा है झूठ बुलवाया जानेका। तो परकी ओर दृष्टि हुए बिना झूठ बोलनेका भाव नहीं बनता। चोरीका भी भाव परदृष्टि बिना नहीं होता। कभी आत्मामें ज्ञानमय स्थितिका वातावरण नहीं रहता है। चोरीके परिणाममें बाह्यकी ओर दृष्टि है। जब किसी जीवसे द्वेष हुआ तभी तो उसकी चोरी की जा रही है या चोरी करायी जा रही है अथवा अपने विषयसाधनोंसे

राग-हुआ है तो उस रागकी प्रेरणाकी वजहसे चोरी की जा रही है, या चोरी करायी जा रही है। सो जिस चीजको चुराया जाता है उस परदृष्टि है, इससे मुझे हित होगा, सो उस परदृष्टिके कारण उसको बंध है।

कुशीलमें भी परदृष्टि है। मैं अपने आप स्वयं आनन्दस्वरूप हूं, जब यह निगाह नहीं रहती है तब विषयभोगका यत्न होता है, और जिसको अपनी यह निगाह हो कि मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूं. मेरा आनन्द मेरेसे कहीं बाहर नहीं मिलता है, ऐसे अपने आनन्दस्वरूपकी दृष्टि हो तो वह क्यों कुशील सेवेगा, क्यों विषयभोग करेगा। तो परदृष्टि हुए बिना ब्रह्मचर्यका घात नहीं होता है। परिग्रहके संचयमें तो परबुद्धि स्पष्ट ही है। वैभवसे मेरेको लाभ है, इस वैभवसे मेरा बड़प्पन है, इस वैभवसे मेरा महत्त्व बढ़ेगा, इस प्रकार वैभवमें दृष्टि है। तो इन पाँचों पापोंमें परपदार्थोंकी ओर दृष्टि है। और इसीलिए बंध है अपनी दृष्टिसे चिगे और परकी दृष्टिमें लगे, यही बंध हो गया। अब बन्धनकी दृष्टिसे सब बंधन समान हैं। अर्थात् स्वयं दूर हो गया और परकी ओर उन्मुख हो गया।

पराश्रयतामें शुभ अशुभका प्रकार—पर अथवा परपदार्थोंमें जो ऐसे आत्माके आश्रयभूत हैं कि जिन परिणामोंके वातावरणमें अपने स्वभावकी दृष्टि कर सकनेकी अपात्रता नहीं आती है वे तो होते हैं शुभबंधके कारण और जिन परदृष्टियोंमें स्वभावदृष्टिकी अपात्रता बन जाती है वे होते हैं अशुभ बंधके कारण। जब भगवानकी भक्ति कर रहे हों तो भगवान है ज्ञानस्वरूप। ज्ञायकस्वरूप भगवान है तो जरूर पर, है तो परपदार्थ किन्तु तो परपदार्थ होकर भी ज्ञानस्वरूप भगवानकी जो दृष्टि है वह हमें अपात्र नहीं बनाती कि हम स्वभावदृष्टि कर सकें, और चाहें तो भगवानकी भक्तिके बीच-बीच हम आत्मस्पर्शी बन सकते हैं। जितनी-जितनी ये व्यवहारधर्मकी आन्तरिक क्रियाएँ हैं ये हमें निश्चय धर्मपालनकी अपात्र नहीं बनाती हैं, पात्र रखती हैं, योग्यता बनाएँ रहती हैं, परन्तु पापकी जो क्रियाएँ हैं. हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, उनमें कोई लगे तो उसमें पदार्थस्वदृष्टिकी अपात्रता बन जाती है। वह जीव जो पापमें प्रवृत्त है, अपने स्वरूपकी दृष्टि करनेमें असमर्थ है। इस अशुभमें लगनेसे पापकर्मों का बंध होता है।

सर्वत्र अध्यवसायकी बन्धहेतुता—अध्यवसायके बंधनकी दृष्टिसे देखा जाय तो पापमें भी वही पद्धति हुई और पुण्यमें भी वही पद्धति हुई, अर्थात्

कहीं ऐसा नहीं है कि पापका बंध अध्यवसायसे होता हो और पुण्यका बंध रत्नत्रयके पालनसे होता हो, रत्नत्रयके पालनसे निर्जरा है, बंध नहीं है। बंध अध्यवसायसे ही होता है। हिंसा, झूठ आदिसे बंध हो तो पाप-होगा और अहिंसा, दया, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्यका पालना, परिग्रहका त्यागना इनका अध्यवसाय हो तो पुण्यबंध होता है। जैसे पराश्रयक परि-णामोंमें लगाव, किसी परविषयक उपयोगपरिणमन उस पापबंधमें हुआ है, इसी प्रकार पराश्रयक परिणामोंका लगाव किसी परके विषयमें उपयोग का योजन इस पुण्यबंधमें भी हुआ है।

परवशताकी स्थिति—स्ववशतामें सम्वर और निर्जरा और परवशता में आश्रय और बंध है। निश्चयसे परवशता वहाँ होगी जहाँ यह जीव अपने शुद्ध स्वभावकी दृष्टिसे चिगकर किसी परकी ओर लगे। यहाँ पर-शता हो ही चुकी, स्ववशता नहीं रही। रागद्वेष, झूट, इनका भी वह आधार बन गया, तो परवशतासे जैसे हिंसामें अध्यवसाय करने से पापका बंध होता है, इसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनमें भी जो अध्य-वसाय होता है उससे भी पापका बंध होता है। और जैसे मैं नहीं मारता हू, मैं नहीं मारूँगा, मैं दया करता हू, मैं सुखी करूँगा ऐसे दयाके परिणामों में पुण्यका बंध होता है, इसी प्रकार सच बोलेंगे, असत्य न कहेंगे, चोरीका सर्वथा त्याग है, परवस्तुको छुवूँगा भी नहीं, और ब्रह्मचर्यका पालन होगा, परिग्रहका मुझे प्रयोजन न रहेगा, नहीं रखना हूं, इस प्रकारका अध्यवसाय करनेसे पुण्यबंध होता है। जहाँ यह जीव अपनी स्वरूपदृष्टिसे बिगा अर्थात् किसी भी प्रकारकी विकल्प तर्कणा की वहां बंध होता है। वे बंध शुभ अशुभके भेदसे २ प्रकारके हैं। जैसा आश्रय है, जैसा परिणाम है, वैसा शुभ अथवा अशुभका बन्ध है।

शुभोपयोग—इस महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि व्यवहारधर्ममें इस ज्ञानी जीवके ऐसी सूक्ष्म प्रवृत्तियोंकी स्थिति होती है कि क्षणमें ज्ञानदृष्टि, बाह्य संयमदृष्टि, संयमके पालनकी सावधानी उत्साह, बीचमें ज्ञानदृष्टि, इस प्रकारसे अपने ज्ञानको छूना और बाह्य प्रवृत्तियोंका यत्न होना, इस तरहकी उनमें ज्ञानदृष्टि और प्रवृत्ति क्षण-क्षणमें बदलती हुई चलती रहती है और ऐसे अनेक प्रवर्तनोंका समूह अन्तर्मुहूर्तमें हो जाता है, और उस समूहरूप अन्तर्मुहूर्तमें जो निष्कर्ष निकलता है उस परिणामका नाम है शुभोपयोग। ज्ञानीके शुभोपयोगके समयमें केवल रागविषयक बात ही चलती हो ऐसी बात नहीं है। ज्ञानदृष्टि, रागवृत्ति क्षण-क्षणमें अपनी

बुद्धिमें जो उनके अनुभवमें आ सकती है, बदलती रहती है, और उनके भी अनुभवमें आ सकने योग्य उन परिणामोंका जो पुञ्ज बना वह है शुभोपयोग। शुभोपयोग शब्द कहनेसे चूँकि शुभकी मुख्यता है इस कारण बंधकी बात बंधका कारण बताया है, पर शुभोपयोग केवल राग-रागसे उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस परिणमन धारामें बीच-बीच ज्ञानदृष्टि होती जाती हो उन परिणमनोंका समूहभूत जो एक अनुभव है उस अनुभवका नाम है शुभोपयोग।

व्यावहारिकताके उपायमें आन्तरिकताके दर्शन— लोगोंको प्रवृत्ति दिखाकर मर्मका ज्ञान कराया जाता है। ज्ञानी पुरुष चार हाथ आगे जमीन देखकर सूर्यकी रोशनीमें चलते हैं। साधुजन ऐसे तो दिखते हैं और जानकारी करायी जाती है कि उनके अन्तरमें वह परिणमन है कि किस अंतरङ्ग भावके कारण चलें तो इस तरहकी प्रवृत्ति हो? ऐसा वह भाव कौन-सा है? केवल राग-राग ही भाव नहीं है, उसी काल उसके ज्ञानोत्साह भी लगा है और उस ज्ञानोत्साहके साथ प्रवृत्ति बनी है उसे कहेंगे शुभोपयोग। तो शुभोपयोगका जो परिणाम है उस परिणाममें केवल राग धारा नहीं है, उसके मध्य मध्यमें संत ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानदृष्टि भी चलती रहती है। ज्ञानदृष्टि हुई, फिर रागवृत्ति हुई बुद्धिमें, लब्धिमें। तो ज्ञानकी योग्यता भी निरन्तर है और रागका परिणमन भी निरन्तर है। पर बुद्धिकी अपेक्षा कभी ज्ञानदृष्टि होती है, कभी रागपरिणमन होता है बुद्धिमें। तो इन ज्ञानदृष्टि और रागपरिणमन अथवा सब धाराओंका पुञ्जरूप जो एक अनुभव है ऐसे अनुभवको शुभोपयोग कहा है।

शुभोपयोगमें ज्ञानधारा व रागधाराका प्रवाह—शुभोपयोगमें केवल राग धारा ही बहती हो और रागवश ही शुभोपयोग बना है, ऐसी बात नहीं है ज्ञानी जीवके। लेकिन जो शुभोपयोग व्यवहारधर्म मिथ्यादृष्टिके कहा है वह अलग है। व्यवहारधर्म वाली शुभ क्रियावोंमें अज्ञानी जीवके इस तरह की धारावोंका परिवर्तन नहीं चलता है। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव है और संयतासंयत प्रमत्त अवस्थामें है उस जीवके अबुद्धिपूर्वक अर्थात् अपनी बुद्धिमें न आये ऐसी दृष्टिसे तो ज्ञानपरिणमन और रागपरिणमन सब चल रहे हैं। किसी समय बंद नहीं है पर बुद्धिकी अपेक्षा जिसे वह अपने अनुभवमें ला सके इस अपेक्षासे शुभोपयोगके कालमें जो अनुभव कराने वाला है उस एक कालमें सूक्ष्म-सूक्ष्मरूपसे समयमें ज्ञानदृष्टि, रागदृष्टि है। बुद्धिके अनुभवमें जब यह ज्ञानदृष्टि है तब रागवृत्ति नहीं, जब रागवृत्ति

है तब ज्ञानदृष्टि नहीं। किन्तु उस एक शुभोपयोगके कालमें इस तरह ज्ञानदृष्टि रागवृत्तिके परिणमन सहित वहाँ एक परिणमन हुआ, वह शुभोपयोग है। इस शुभोपयोगके समय कर्मनिर्जरा भी है और कर्मबंध भी है।

अध्यवसानकी पराश्रयभाविता—तो वहाँ जो यह अध्यवसान चला सच बोलनेका, ब्रह्मचर्यका, परिग्रहके त्यागका, इन सम्बंधी जो विकल्प हुआ, निश्चय हुआ, संकल्प हुआ, अध्यवसान हुआ, उस ओरका सचेत हुआ सावधानीका परिणाम हुआ, किसी भी रूपमें विकल्प हुआ वह पुण्यबंधका हेतु है। और जो पापपरिणामोंके विकल्प होते हैं—हिंसा, झूठ, चोरी आदि वे तो इस जीवको स्वभावदृष्टिके अपात्र बना देते हैं। वे पापबंधके ही हेतु होते हैं। इस तरह इस प्रकरणमें जो बहुत पहिलेसे चल रहा है, बंधका हेतु क्या है, तो वह जो अध्यवसान है, परके सम्बंधमें परका आश्रय लेकर जो कुछ भी अध्यवसान होता है वह अध्यवसान बंधका कारण है। अध्यवसान परका आश्रय लेकर ही होता है। चाहे वह पर परमेष्ठीरूप हो, चाहे वह पर विषयसाधनरूप हो, पर अध्यवसानकी उत्पत्ति किसी परका आश्रय लेकर ही होती है।

शुभ और अशुभ अध्यवसान—इन अध्यवसानोंमें से यह छटनी की है कि किसको हम शुभ अध्यवसान कहेंगे? हमारे लिए शुभ वह है जो हमारे हितमें साधक या अबाधक हो, हमारे लिए असत्य वह है जो हमारे अहितमें हो। जो जिस परका आश्रय लेकर किए हुए अध्यवसानके द्वारा हम अपनी स्वदृष्टिसे बाहर नहीं गिरते, स्वदृष्टिके हम पात्र रह सकते हैं और अनन्त ही क्षणोंमें हम स्वदृष्टि कर सकते हैं, वे सब हैं शुभ अध्यवसानके आश्रयभूत, और जिन परका आश्रय करके जो हम अध्यवसान बनाते हैं उन उनके विपाकमें हम स्वदृष्टिकी पात्रतासे दूर ही जाते हैं, वह है शुभ-अशुभ आश्रय। जिसमें हमारे हितका मार्ग नहीं होता वह तो है हमारे लिए शुभ सत्य, हित। और जो मेरे अहितका ही करने वाला हो, जो स्वदृष्टिसे गिरानेका ही आश्रय हो ऐसा आश्रय होता है अशुभ। तो अशुभ परका आश्रय करने से होता है पापबंध और जो शुभ परका आश्रय होता है उससे जो अध्यवसान होता है उससे होता है पुण्यबंध।

पराश्रयमें बन्धनकी अविशेषता—अब पुण्यबंध हो अथवा पापबंध हो—जो ज्ञानी पुरुष है, जिसकी रुचि निर्विकल्प ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहनेकी है और उससे ही तृप्ति होती है ऐसे ज्ञानी जीवकी स्वदृष्टिसे रंच भी

चिगना उसे बंधन मालूम होता है, उसको वह एक आपत्ति जानता है, इस कारण उसकी दृष्टिमें शुभ अशुभका आश्रयरूप ये सब उसके लिए बंधन मालूम होते हैं। उन सब बंधनोंसे पार अपने आपके उस शुद्ध अर्थात् इष्टानिष्ट कल्पनारहित ज्ञानज्योतिके ज्ञानके उपयोगकी स्थिति उसको रुचिकर है और ऐसे ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें ये सर्व बंधनरूप हैं। इस प्रकार बंधके प्रकरणमें बंधका हेतु बताते हुए यह सिद्ध किया है कि अध्यवसान ही बंधका कारण है।

❀ समयसार प्रवचन दशम भाग समाप्त ❀

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्रं, ॐ मूर्तिमूर्तिरहितं स्पृशत स्वतन्त्रम्।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम्।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम्।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीडम्।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्तितेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः।
सहजानन्दसवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति॥